* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, वि॰ सं॰ २०४६, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१५, दिसम्बर १९८९ ई॰

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु॰
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ४४.००रु॰
विदेशमें ६ पौंड
अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

श्रीकृष्णका माता-पिताको बन्धन-मुक्त करना
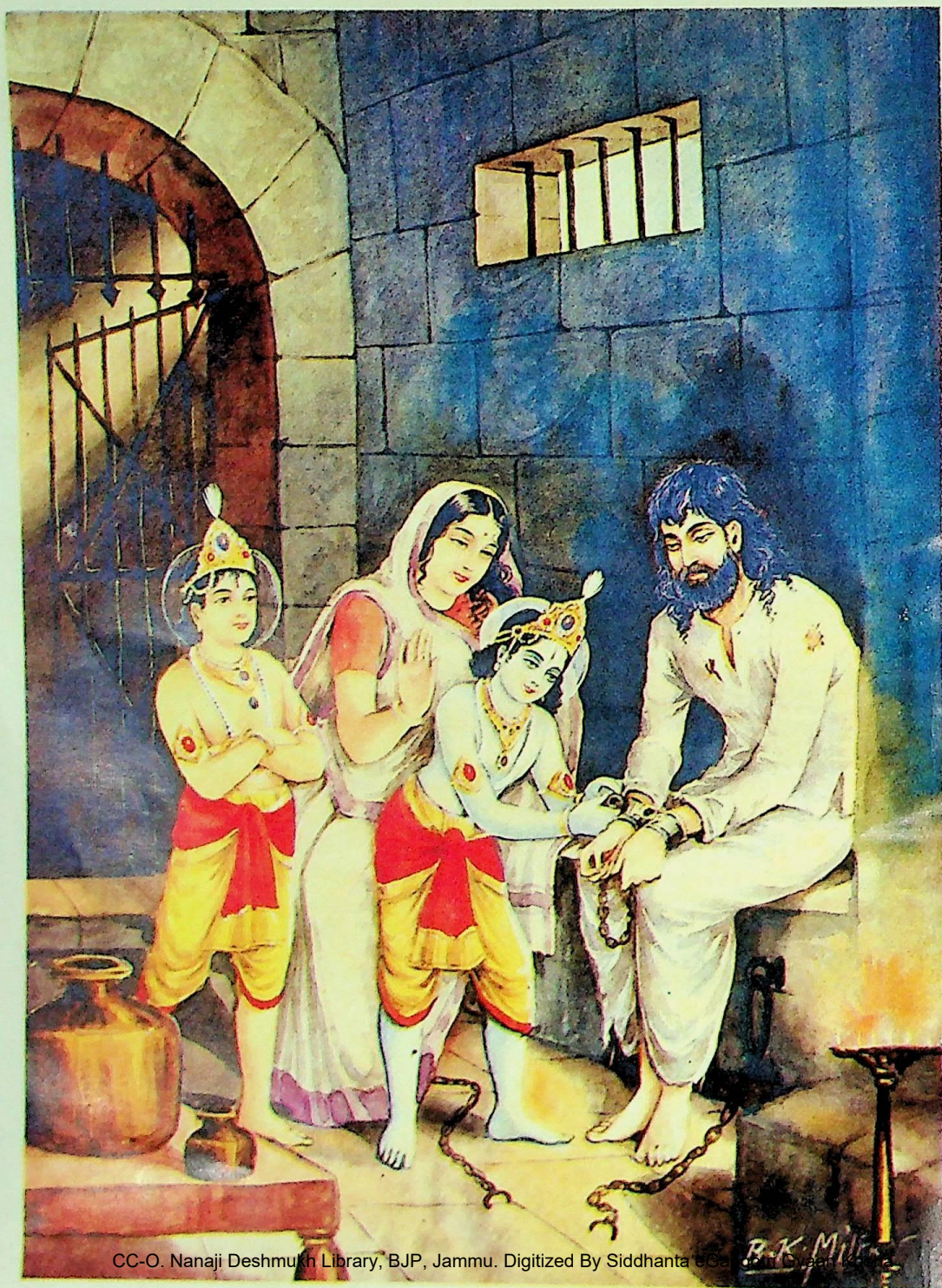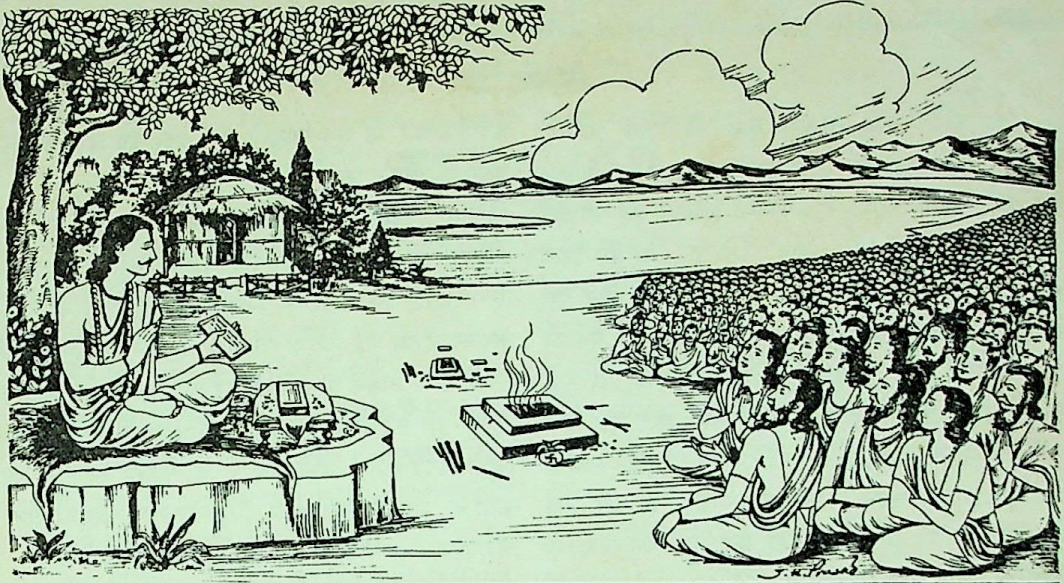
कल्याण

यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत्।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसंग्रहेच्छया॥

वर्ष ६३ | गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, वि॰सं॰ २०४६, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१५, दिसम्बर १९८९ ई॰ | संख्या ९ | पूर्ण संख्या ७५४

वसुदेव-देवकीको बन्धनमुक्त करना

जब जदु-कुल-पति कंसहि मारयौ। तिहूँ भुवन भयौ सोर पसारयौ॥
तुरत मंच तैं धरनि गिरायौ। ऐसैंहि मारत बिलँब न लायौ॥
केस गहे पुहुमी घिसटायौ। डारि जमुन के बीच बहायौ॥
जा कंसहिं तिहुँ भुवन डराई। ताकौं मारयौ हलधर भाई॥
जाकैं धनुष टँकोरत हाथा। आसन डारि भजे सुरनाथा॥
मारत ताहि बिलंब न कीन्हौ। उग्रसेन कौं राजस दीन्हौ॥
जै हो जै बसुदेव कुमारा। जै हो जै तुम नंद-दुलारा॥
सुरदेवी देवै धनि मैया। धनि जसुमति त्रिभुवन-पति धैया॥
धन्य अक्रूर मधुपुरी ल्याए। सुर अंबर जै जै धुनि गाए॥
दनुज बंस निरबंस कराए। धरनी सिर तैं भार गँवाए॥
मातु पिता बंदि तैं छुड़ाए। यह बानी सुर-लोकनि गाए॥
जो जैसौ तैसैं तिहिं भाए। सूरज प्रभु सबकौं सुखदाए॥

कल्याण

याद रखो—इस संसारमें कुछ भी नित्य, स्थायी, अपरिवर्तनशील नहीं है। सभी कुछ अनित्य है, सभी कुछ विनाशी है, सभी कुछ मृत्युके अनन्त प्रवाहमें बह रहा है। इसीलिये यहाँ कुछ भी 'तुम्हारा' नहीं है। तुम इन नित्य मृत्युमय प्रकृतिके पदार्थोंको और कर्मवश तुमसे मिले हुए प्राणियोंको 'मेरा' मानकर मोहमें पड़ जाते हो, उन्हें पकड़ने जाते हो, उन्हें नित्य अपने पास रखना चाहते हो, पर तुम्हें निराश होना पड़ता है, वे तुम्हारे हाथ नहीं आते और पास आये हुए भी छिन जाते हैं—इसीलिये कि वे तुम्हारे नहीं हैं और तुम्हें ममता-मोहके कारण शोकयुक्त होना और रोना पड़ता है। फिर भी तुम समझते नहीं, उन्हें नित्य मानकर पकड़े रखना ही चाहते हो !

याद रखो—तुम जिन खेत-जमीनको और ईंट, पत्थर, रोड़े, लोह-लक्कड़के ढाँचेको मेरा महल या मेरा आश्रम कहकर मन-ही-मन गर्व करते हो, उसमें तुम्हारा कुछ भी नहीं है। जिस जमीनपर वह ढाँचा खड़ा है, वह जमीन भी तुम्हारी नहीं। पर इस मिथ्या ममत्वके कारण तुमको दुखी होना तथा रोना पड़ता है। यह देखते हो कि जिसने सुन्दर मकान बनाया, वह मर गया, उसकी लाशको मकानसे बाहर निकाल फेंका गया, उसे आगमें फूँक दिया या जमीनमें गाड़ दिया गया। फिर उस मकानमें उसका कुछ भी अधिकार नहीं रहा, किसी भी कारणसे किसी दूसरेका उसमें निवास हो गया और वह उसे 'मेरा' कहने लगा। फिर भी तुम समझते नहीं और ईंट-पत्थर तथा लोह-लक्कड़को 'मेरा' कहकर उनसे सिर फोड़ा करते हो !

याद रखो—जगत्में बहुत बड़े-बड़े प्रभावशाली, शक्तिमान् अपनेको अनन्त पदार्थों और प्राणियोंके एकमात्र स्वामी माननेवाले हुए और मर गये। उनमेंसे बहुतोंका तो नाम-निशान भी आज नहीं मिलता। फिर तुम जो तुच्छ पदार्थोंमें मोह करके उन्हें 'मेरा' कहते हो और अपनेको ममताके बन्धनमें जकड़कर दिन-रात दुखी रहते हो, वह तुम्हारी बड़ी मूर्खता है। मूर्खता ही नहीं, ममताके कारण जो आसक्ति होती है और उससे अनाचार, दुराचार तथा पाप मन-वाणी-शरीरसे बनते हैं, उनका दुष्परिणाम भी तुम्हें भोगना पड़ेगा। फिर भी तुम समझते नहीं और इन प्राणी-पदार्थोंमें 'मेरापन' छोड़ना नहीं चाहते।

याद रखो—बड़े-बड़े महल ढह गये, बड़े-बड़े नगर भूमिसात् हो गये। देश-के-देश जलमें डूब गये या भूमिके तलमें प्रवेश कर गये। तुम जिनको 'मेरे' मानकर और 'मेरे' कहकर मोहमें पड़े हुए हो, वे सभी पदार्थ नाश होनेवाले हैं, उनका नाम-निशान भी नहीं रहेगा। तुम कितनी बड़ी भूल कर रहे हो जो उन जमीन-मकान तथा पदार्थोंके लिये दूसरोंसे लड़ते-झगड़ते हो, अपने तथा उनके मनकी शान्तिका नाश करते हो, भगवान्को भूलकर दूसरोंको परास्त करनेकी, उनपर विजय प्राप्त करनेकी, उनकी 'मेरी' मानी हुई चीजोंको अपनी 'मेरी' बनानेकी तथा अपनी 'मेरी' मानी हुई चीजोंसे चिपटे रहनेकी चाह और कोशिश करते हो। तुम्हारे जीवनका यह प्रमाद तुम्हारे लिये बड़ा ही घातक, बड़ा ही हानिकारक सिद्ध होगा। फिर भी तुम समझते नहीं और अपने ही हाथों अपनी असीम हानि कर रहे हो !

याद रखो—संसारके अन्यान्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या है, जिस शरीरको तुम केवल 'मेरा' ही नहीं कहते, 'मैं' कहकर पुकारते हो, जिसकी अस्वस्थतामें 'मैं अस्वस्थ हूँ', जिसके मरनेकी बातपर 'मैं मर जाऊँगा' कहते हो—वह भी तुम्हारा नहीं है। वह पाँच भूतोंका पुतला है—जो प्राणसहित तुम चेतनके विलग होते ही मुर्दा होकर पड़ जायगा और जिससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा। फिर भी तुम नहीं समझते और इस नश्वर पाञ्चभौतिक पुतलेको 'मैं' और 'मेरा' पुकार-पुकारकर अपनी मूर्खताकी वज्र-घोषणा करते हो और अनवरत अनिष्टकारी पाप-तापके संग्रहमें लगे रहते हो।

याद रखो—जिस आराम और नाम-यशके लिये तुम दिन-रात परेशान रहते हो, वह 'आराम' तुमको नहीं होगा, और न वह 'नाम-यश' ही तुम्हारा होगा। आराम मिलता है शरीरको और नाम-यश होता है नामका। तुम न 'शरीर' (रूप) हो और न 'नाम' हो। तुम तो आत्मा हो, शुद्ध-बुद्ध-नित्य-मुक्त हो, अपने स्वरूपको पहचानते ही सब दुःखोंसे छूट जाओगे, फिर भी तुम नहीं समझते और मिथ्या नाम-रूपके फंदेमें पड़ दुःख-पर-दुःख बुलाये चले जा रहे हो। —'शिव'

विचार-साधना

(स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

[गताङ्क पृ० ७३२ से आगे]

मैं—वाह पण्डितजी ! वाह ! अब आपकी गाड़ी लीकपर आ गयी और ऐसा लगता है कि आपने बातको ठीक समझ लिया है। यह प्रसङ्ग पूर्वके प्रसङ्गकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, अतः खूब एकाग्र होकर सुनिये।

देखिये, शरीर मरता है तब क्या होता है ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्राण शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। जबतक प्राण अपान होकर वापस लौटता रहता है, तभीतक शरीर जीवित रह सकता है, परंतु जब प्राण वापस नहीं लौटता और चला ही जाता है, तब शरीर नाशको प्राप्त होता है। प्राणको जाते हुए तो आप आँखोंसे देखते हैं, परंतु दूसरे कितने ही सूक्ष्म पदार्थ भी उसके साथ शरीरको छोड़कर चले जाते हैं, वे आँखोंसे नहीं दीखते। प्राण पाँच हैं और उनके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन तथा बुद्धि—इस प्रकार कुल सत्रह पदार्थ शरीरको छोड़कर चले जाते हैं। इन सत्रह पदार्थोंके समूहको 'सूक्ष्म शरीर' या 'लिङ्ग-देह' कहते हैं।

अब इस सूक्ष्म शरीरका स्वभाव समझिये, जिससे आपके प्रश्नका उत्तर मिल जायगा। यह सूक्ष्म शरीर भी स्वभावसे स्थूल शरीरके समान जड ही है, परंतु पञ्च महाभूतोंके सूक्ष्म अंशोंसे बने हुए लोहे या काठके समान अत्यन्त जड नहीं है। इनमें भी मन-बुद्धि शुद्ध सात्त्विक अंशोंसे बने हैं। अतएव वे स्थूल शरीरके समान बिलकुल जड नहीं तथा आत्माके समान स्वतः चैतन्य भी नहीं हैं, परंतु मध्यभाववाले हैं। इस कारण वे आत्माके चैतन्यको अपनेमें ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार मन-बुद्धि आत्माके चैतन्यके द्वारा चेतनयुक्त होकर उस चेतनको प्राणद्वारा इन्द्रियोंमें पहुँचाते हैं और इस तरह सारा सूक्ष्म शरीर चेतनयुक्त होकर स्थूल शरीरको चेतनयुक्त कर देता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर सारे स्थूल शरीरमें व्याप्त होकर रहता है।

अब आप अपने प्रश्नोंका उत्तर एक-एक करके समझिये। यहाँसे मन-बुद्धि दो शब्दोंके स्थानमें केवल 'मन' शब्दका प्रयोग किया जायगा और उसमें दोनोंको साथ-साथ समझ लीजियेगा। आपका पहला प्रश्न है कि कर्मका कर्ता कौन है ? अब देखिये—स्थूल शरीर तो कर्मका कर्ता हो नहीं सकता, क्योंकि यदि वह कर्मका कर्ता होता तो प्राण निकल जानेके बाद भी वह कर्म करता हुआ दीख पड़ता, परंतु वैसा देखनेमें नहीं आता, इसलिये स्थूल शरीर तो कर्ता है ही नहीं।

तब क्या प्राण कर्ता है ? यदि प्राणको कर्ता मानें तो स्वप्नावस्थामें या सुषुप्तिमें तथा मूर्च्छामें प्राण तो उपस्थित रहता है, परंतु कोई कर्म होता नहीं दीखता। इसलिये प्राण भी कर्ता नहीं है।

तब क्या इन्द्रियाँ कर्ता हैं ? यदि इन्द्रियोंको कर्ता मानें तो स्वप्न तथा सुषुप्तिमें इन्द्रियाँ तो रहती हैं, परंतु कोई कर्म होता नहीं दीखता। जाग्रत्-अवस्थामें भी इन्द्रियाँ मनके सहयोगके बिना कुछ भी नहीं कर सकतीं—यह प्रतिदिनके अनुभवकी बात है। आँखें खुली हों तथापि यदि मन अन्यत्र लगा हो तो आँखें कुछ नहीं देखतीं तथा हम अनेकों बार कहते हैं कि 'मेरा मन अन्यत्र था, इससे तुम्हारी बात मैं सुन न सका।' इसलिये इन्द्रियाँ भी कर्ता नहीं हैं।

अब बचे मन और बुद्धि, इसलिये वे ही सच्चे कर्ता हैं। एक बढ़ईके पास जैसे अपना काम करनेके लिये बसूला, रंदा, कुल्हाड़ी आदि साधन होते हैं, उसी प्रकार ये दस इन्द्रियाँ मनके साधनमात्र हैं और इसीसे इनका एक अर्थसूचक नाम भी है—करण। करण अर्थात् हथियार, औजार या साधन। जैसे बढ़ई लकड़ी गढ़नेके समय बसूलेका उपयोग करता है और उसको चिकना करनेके लिये रंदेका प्रयोग करता है, उसी प्रकार मनको देखना होता है तो आँखका, सूँघना होता है तो नाकका और सुनना होता है तो कानका तथा चलना होता है तो पैरका और लेना-देना होता है तो हाथका उपयोग करता है। प्राणद्वारा वह सब इन्द्रियोंमें शक्ति पहुँचाता है, जिससे वे अपना-अपना काम ठीक कर सकें।

अब आपका दूसरा प्रश्न यह है कि कर्मका फल कौन भोगता है ? बिलकुल दीपक-जैसी स्पष्ट बात है। व्यवहारमें बलराम माल मँगावें और प्राणलाल जकात दें, ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार अम्बालाल दवा पियें और वासुदेवको

जुलाब लगे, यह भी नहीं बनता, वैसे ही परमार्थमें भी जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है, जैसे जो चोरी करता है, वही जेल जाता है।

अब मन-बुद्धि ही कर्मका फल भोगते हैं, इस बातको युक्तिसे सिद्ध करें। जाग्रत्-अवस्थामें मन बहिर्मुख होता है, इससे सुख-दुःखादि प्रपञ्च बाहर दीख पड़ते हैं। जब नींद आ जाती है, तब मन अन्तर्मुख हो जाता है और तब शरीरके अंदर ही जाग्रत् प्रपञ्चके-जैसा ही स्वप्नप्रपञ्च दीखता है। जब गाढ़ निद्रा आ जाती है, तब मन अपने उपादानमें लीन हो जाता है, यानी उस समय सुख-दुःखादि कोई भी प्रपञ्च नहीं दीखता। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक-युक्तिसे यह सिद्ध होता है कि जहाँ मन उपस्थित होता है, वहीं प्रपञ्चका अनुभव होता है और उसकी अनुपस्थितिमें वह अनुभव नहीं होता। अन्वय यानी जहाँ मन है, वहाँ सुख-दुःखका भान होता है, जाग्रत्-स्वप्नमें मन उपस्थित रहता है, इसलिये वहाँ क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म भोग दीख पड़ते हैं, जब सुषुप्ति-अवस्थामें मन लीन हो जाता है, तब वहाँ सुख-दुःखका भोग भी नहीं दीखता। इस प्रकार सुख-दुःखरूपी कर्मफलका भोगनेवाला मन ही है।

यह बात बहुत ही महत्त्वकी है, इसलिये एक उदाहरणसे समझिये। एक व्यक्तिके हाथपर फोड़ा हो गया। उसकी वेदनासे वह चिल्लाता है तथा खूब व्याकुल होता है। यों करते-करते थक जाता है और नींद आ जाती है, तब शान्त हो जाता है। नींद आनेपर वह स्वप्न देखता है कि वह जिस घरकी छतपर है, उसमें आग लग गयी है। उससे बचनेके लिये वह इधर-उधर दौड़-धूप करता है, परंतु कहीं भी नीचे उतरनेका रास्ता नहीं दीखता। अन्तमें एक खिड़की दीख पड़ती है और इस प्रकार जलकर मरनेकी अपेक्षा खिड़कीसे कूदना ठीक समझकर जैसे ही कूदता है, वैसे ही वह जाग जाता है। जागते ही आग तथा वह घर अदृश्य हो जाते हैं और वह अपनेको चारपाईपर सोता हुआ पाता है। अब विचारिये कि जब उस व्यक्तिको नींद आ गयी थी तो क्या फोड़ेकी वेदना मिट गयी थी? नहीं, वह तो ज्यों-की-त्यों थी, परंतु नींदमें वेदना भोगनेवाला मन वहाँ उपस्थित न था और इस कारण उस समय वेदनाका अनुभव नहीं होता था, केवल इतनी ही बात थी। उसी प्रकार स्वप्नगत आगका दुःख और जल जानेका भय भी मन अन्तर्मुख था तभीतक लगता था, मनके जाग्रदवस्थामें आ जानेपर वह दुःख और भय अदृश्य हो गया, क्योंकि उसका अनुभव करनेवाला मन बहिर्मुख हो गया, अतः स्वप्न-प्रपञ्चके साथ उसका सम्बन्ध छूट गया। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि कर्मके कर्ता जैसे मन-बुद्धि हैं, वैसे ही उस कर्मके फलको भोगनेवाले भी वे ही हैं।

आपका तीसरा प्रश्न यह है कि उच्च-नीच योनियोंमें जन्म कौन धारण करता है? फलभोगकी तरह यह स्पष्ट है कि जिसको सुख-दुःख भोगना होता है, वही उन भोगोंके अनुरूप देह धारण करता है। इसमें तो कुछ सिद्ध करना ही नहीं है। एक शरीरका प्रारब्धभोग पूरा होते ही सूक्ष्म शरीर उसको छोड़ देता है, क्योंकि फिर उस शरीरमें रहनेका उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर नये प्रारब्धको भोगनेके लिये उस भोगके अनुरूप वह दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है और उस शरीरके द्वारा भोग भोगता है। इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आवागमन तो सूक्ष्म शरीरका होता है, परंतु आत्मा अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण भ्रमवश अपनेको उसके साथ आता-जाता मान बैठा है। मन-बुद्धिको कर्म करते तथा उसका फल भोगते देखकर आत्मा उसके साथ एकाकार हो जाता है और उसके कर्ता-भोक्तापनको अपनेमें मानकर स्वयं कर्ता-भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार स्थूल देहके जन्म-मरणको अपना जन्म-मरण मानकर उसका दुःख भोगता है। जब प्राण क्षुधा-तृषासे व्याकुल होता है, तब वह स्वयं व्याकुलताका अनुभव करता है। आत्माके इस प्रकारके भ्रमको शास्त्रोंने 'देहाध्यास' अथवा 'जीवभाव' कहा है। प्रकृति या मन-बुद्धिके साथ एकात्मताका भ्रम ही जीवभाव है। इसीसे उसमें कर्ता-भोक्तापन प्रतीत होता है। इस देहाध्यास या जीवभावको छुड़ाना हो तो आत्माको उसका स्वरूप समझना चाहिये, जिससे वह अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाय।

कुछ लोग पूछते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मस्वरूप आत्मामें यह जीवभाव आया कहाँसे? और कब आया? यह बात तो सृष्टिके आदिसे है। हम विश्वको अनादि मानते हैं, इसलिये वह कब उत्पन्न हुआ, यह कोई नहीं जानता, क्योंकि जिसने देखा है, उसने विश्वको चलते ही देखा है। अतएव आत्मामें जीवभाव भी अनादिकालसे ही चला आ रहा है।

आकाशसे जब पानी गिरता है, तब वह पूर्ण स्वच्छ होता है, परंतु पृथ्वीका संग होते ही उसमें दोष आ जाता है। यह दोष पानीमें स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि स्वभावसे तो वह निर्मल था। अतएव यह मलिनता आगन्तुक होनेके कारण फिर उस पानीको निर्मल किया जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावसे तो निर्मल ही है, परंतु विश्वकी सृष्टिके प्रारम्भसे ही उससे विविध शरीरोंका संग होता आ रहा है, इस कारणसे उसमें इन शरीरोंकी मलिनता आ गयी है और इसी कारण उसमें 'जीव'-भाव दृढ़ हो गया है। परंतु यह जीवभाव आगन्तुक होनेके कारण स्वरूपगत नहीं है, इसलिये जीवभावकी निवृत्ति हो सकती है और मानव-शरीरकी सार्थकता भी इसीमें है।

इसलिये अब देहाध्यास या जीवभावकी निवृत्ति कैसे करें—यह देखना बाकी रहा। श्रीशंकराचार्य इस बातको इस प्रकार समझाते हैं—

रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जुर्यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः।
आप्तोक्त्या हि भ्रान्तिनाशे स रज्जु-
र्जीवो नाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम्॥

'जैसे यह रस्सी पड़ी है, यह ज्ञान न होनेके कारण ही रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति होती है और इसी कारण रस्सी सर्परूप दीखती है। इसी प्रकार आत्माको अपने स्वरूपकी विस्मृति हो गयी है, इसी कारण शरीरके धर्मको अपनेमें कल्पित करके वह अपनेको जन्म-मरणवाला जीव मान बैठा है। अब यदि कोई आप्त पुरुष तेज प्रकाश लाकर हमें दिखलाये कि 'भाई! तुम जिसे सर्प मानते थे, वह तो रस्सी है' तो उसी क्षण सर्पकी भ्रान्ति दूर हो जाय। उसी प्रकार यदि वेद-शास्त्र तथा गुरु-वचनसे आत्माका वह स्वरूप समझमें आ जाय तो उसी क्षण निश्चय हो जाय कि जीव होनेका तो भ्रम था। मैं तो शिवस्वरूप अर्थात् मङ्गलस्वरूप आत्मा हूँ।'

अब आत्माको उसका स्वरूप कैसे समझावें, इसकी एक अद्भुत युक्ति श्रीअष्टावक्रजीने बतलायी है, उसे देखिये। वेद कहता है कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**—अर्थात् यह जो कुछ है, वह सब ब्रह्मरूप है, यह पहले निश्चय करे। फिर कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति बुद्धं चेन्नाहं ब्रह्मेति धीः कुतः।
अहं ब्रह्मेति बुद्धं चेत् किमसंतोषकारणम्॥

यह सब ब्रह्मरूप है, ऐसा निश्चय करनेके बाद 'मैं ब्रह्मरूप नहीं हूँ' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'मैं' का समावेश 'यह सब' में हो जाता है। ऐसी स्थितिमें 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह निश्चय हुए बिना रहता ही नहीं, और तब आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और उसका जीवभाव निवृत्त हो जाता है। इस बातको संक्षेपमें कहना हो तो न्यायके एक ही सावयव-पदसे इस प्रकार कह सकते हैं—

यह सब ब्रह्मरूप है, मैं इस सबके अन्तर्गत हूँ। इसलिये मैं ब्रह्म हूँ।

विद्वान् पण्डितजी! यहाँतक तो हमने यह समझ लिया कि ज्ञान क्या वस्तु है तथा उससे जन्म-मरणरूप बन्धनकी निवृत्ति कैसे होती है—यह भी देख लिया, परंतु इतना जान लेनेसे कोई लाभ नहीं होता। इस विचारको स्थिर करनेके लिये साधन करना चाहिये, जिसकी रूप-रेखा संक्षेपमें बतलायी जा रही है, ध्यान देकर सुनिये।

पहले तो वासनाक्षय, मनोनाश और तत्त्वचिन्तनके प्रसङ्ग योगवासिष्ठसे ठीक-ठीक समझ ले और फिर उसके अनुसार अभ्यासमें लग जाय। मैं समझता हूँ कि (यदि लगा रहे तो) करीब पाँच वर्षोंमें चित्तशुद्धि हो जायगी। आप पाँच वर्ष सुनते ही चमक कैसे उठे? इसमें चमकनेकी कोई बात नहीं है। आप देखिये, व्यवहारमें एक विद्यार्थीको मैट्रिक होना हो तो पूरे ग्यारह वर्ष और बी॰ ए॰ होना हो तो पंद्रह वर्ष तन तोड़कर परिश्रम करना पड़ता है और उसका फल क्या होता है?—केवल इतना ही कि भाग्यमें हो तो नौकरी मिल जाय और पेट भरता रहे। यहाँ तो आपको अपनी जीविकाके लिये उद्यम करते हुए साधन करना पड़ता है। अन्तर केवल इतना ही है कि अबतक आपने आजीविकाको मुख्य काम माना था, उसके बदले उसको गौण मानकर अब साधनको जीवनका मुख्य कर्तव्य मानें, फिर इसका फल देखें तो अनन्त और अविनाशी है—दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक परम आनन्दकी प्राप्ति। इसकी सिद्धिके लिये पाँच वर्ष तो क्या पाँच जीवन भी देने पड़ें तो भी सौदा महँगा नहीं, ऐसा समझ लीजिये—

अब अभ्यास कैसे करना चाहिये, इस सम्बन्धमें योगदर्शनका एक सूत्र सुनकर उसे ध्यानमें रखिये।

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'

इसलिये अभ्यास दीर्घकालतक करना चाहिये अर्थात् सिद्धि प्राप्त होनेतक करते रहना चाहिये। फिर अभ्यास सतत तथा धाराप्रवाह करना चाहिये। चार दिन करे और दो दिन न करे—ऐसा करनेसे काम नहीं चल सकता। अभ्यास भाव और प्रेमसे होना चाहिये, सिरसे भार उतारनेके समान नहीं। इस प्रकार अभ्यास हो, तभी वह फलदायी होता है।

अब आप अभ्यासमें प्रगति कर रहे हैं या नहीं—इसे जाननेके लिये यह कुंजी ध्यानमें रखिये—

विचारः सफलस्तस्य विज्ञेयो यस्य सन्मतेः।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नता॥

'उस भाग्यशाली साधकका अभ्यास सफलतापूर्वक चल रहा है, यह कैसे जानें? यदि उसकी भोगवासना दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जा रही हो तो समझना चाहिये कि अभ्यास ठीक हो रहा है।'

अब यह जानना है कि सिद्धि प्राप्त होनेतक अभ्यास किसलिये करना चाहिये। बहुधा मनुष्य अधीर हो जाता है और निश्चित समयमें थोड़ा भी फल नहीं दीख पड़ता तो अभ्यास छोड़ देता है। ऐसे प्रसङ्गोंमें अधिकतर अभ्यास करनेमें कोई-न-कोई त्रुटि रह जाती है और बहुधा दोष-निवृत्ति होनेमें देर लग जाती है। इसलिये सिद्धिपर्यन्त धीरजके साथ अभ्यास चालू रखना चाहिये।

श्रीरामचन्द्रजी गुरु वसिष्ठसे कहते हैं—'महाराज! समर्थ गुरु और श्रद्धाशील मुमुक्षु साधक होनेपर भी बोध होनेमें देर क्यों होती है? उत्तर देते हुए गुरु वसिष्ठ कहते हैं—

जन्मान्तरचिराभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥

जीवभाव दृढ़ करते-करते प्राणी अनेक जन्म लेते आ रहे हैं, इसलिये उस जीवभावको निवृत्त करके उसके स्थानमें परमात्मभाव स्थिर करना है, इसमें दीर्घकाल तो लगेगा ही, इसलिये धीरजसे साधन करते रहना चाहिये।

लौकिक दृष्टान्त देकर अच्छी तरह समझाते हुए श्रीपञ्चदशीकार कहते हैं—

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते॥

जैसे खेतमें बीज बोनेपर कहीं वह तुरंत ही जम नहीं जाता, परंतु उसके अंकुरित होनेमें देर लगती है। बेरके बीजके समान कठिन बीज हो तो अधिक समय लगता है और अनाजके समान नरम बीज हो तो कम समय लगता है। इसी प्रकार माताके उदरमें गर्भके परिपक्व होनेके लिये समय चाहिये। हाथी-जैसे बड़े प्राणीके लिये अधिक और बिल्ली या चूहे-जैसे छोटे प्राणीके लिये कम समय चाहिये। वैसे ही आत्मभावना भी धीरे-धीरे कालक्रमसे परिपक्व होती है। उसमें अधीर होनेसे काम नहीं चलता। इस प्रकार सतत अभ्यास कीजिये तो मुझे विश्वास है कि इसी जन्ममें आप कृतकृत्य हो जायँगे।

सत्संग पूरा हुआ, पण्डितजी महाराज परम संतोष तथा कृतज्ञता प्रकट करते हुए चले गये।

ॐ नमो नारायणाय।

जो संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण हैं, स्वयं कारणरहित हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाके अन्तर्गत और साक्षीरूपसे उनसे पृथक् हैं तथा जिनके द्वारा संजीवित होकर देह, इन्द्रिय, प्राण और हृदय अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, वे ही परमतत्त्व नारायण हैं।—श्रीमद्भागवत

गङ्गा सागरमें मिलनेके लिये जाती है, परंतु जाती हुई जगत्का पाप-ताप निवारण करती और तटके वृक्षोंको पोसती जाती है, अथवा सूर्य भगवान् नित्य परिक्रमा करते हुए संसारका अन्धकार दूर करते और कमलोंको विकसित करते जाते हैं; इसी प्रकार आत्मज्ञानी संत अपने सहज-कर्मोंसे संसारमें बँधे बंदियोंको छुड़ाते, डूबे हुओंको निकालते और आर्तोंका दुःख दूर करते रहते हैं।—ज्ञानेश्वर महाराज

मांस-भक्षण-निषेध

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम्।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः॥

(महा०, अनु०११५।५५)

'जो पुरुष अपने लिये आत्यन्तिक शान्तिलाभ करना चाहता है, उसको जगत्में किसी भी प्राणीका मांस किसी भी निमित्त नहीं खाना चाहिये।'

यद्यपि जगत्में बहुत-से लोग मांस खाते हैं, परंतु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि मांस-भक्षण सर्वथा हानिप्रद है। इससे लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। बहुत-से लोग तो ऐसे हैं जो मांस-भक्षणको हानिकर समझते हुए भी बुरी आदतके वशमें होनेके कारण नहीं छोड़ सकते। कुछ ऐसे हैं जो आराम और भोगासक्तिके वशमें हुए मांस-भक्षणका समर्थन करते हैं, परंतु उन लोगोंको भी विवेकी पुरुषोंके समुदायमें नीचा देखना पड़ता है। निवेदन यही है कि पाठक इस लेखको मननपूर्वक पढ़ें और उनमें जो मांस खाते हों, वे कृपापूर्वक मांस खाना छोड़ दें। मांस-भक्षणसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका पार नहीं है। उनमेंसे यहाँ संक्षेपमें कुछ बतलाये जाते हैं—

१.मांस-भक्षण भगवत्प्राप्तिमें बाधक है।
२.मांस-भक्षणसे ईश्वरकी अप्रसन्नता प्राप्त होती है।
३.मांस-भक्षण महापाप है।
४.मांस-भक्षणसे परलोकमें दुःख प्राप्त होता है।
५.मांस-भक्षण मनुष्यके लिये प्रकृतिविरुद्ध है।
६.मांस-भक्षणसे मनुष्य पशुत्वको प्राप्त होता है।
७.मांस-भक्षण मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है।
८.मांस-भक्षण घोर निर्दयता है।
९.मांस-भक्षणसे स्वास्थ्यका नाश होता है।
१०.मांस-भक्षण शास्त्रनिन्दित है।

अब उपर्युक्त दस विषयोंपर संक्षेपसे पृथक्-पृथक् विचार कीजिये।

(१) सम्पूर्णरूपसे अभयपदकी प्राप्तिको ही मुक्ति—परमपदप्राप्ति या भगवत्प्राप्ति कहते हैं। इस अभयपदकी प्राप्ति उसीको होती है, जो दूसरोंको अभय देता है। जो अपने उदरपोषण अथवा जीभके स्वादके लिये कठोरहृदय होकर प्राणियोंकी हिंसा करता-कराता है, वह प्राणियोंको भय देनेवाला और उनका अनिष्ट करनेवाला मनुष्य अभयपदको कैसे प्राप्त हो सकता है? श्रीभगवान्ने निराकार-उपासनामें लगे हुए साधकके लिये **'सर्वभूतहिते रताः'** और भक्तके लिये **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** कहकर सर्वभूतहित और प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दया करनेका विधान किया है। भूतहित और भूतदयाके बिना परमपदकी प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। अतएव आत्माके उद्धारकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका कर्तव्य है कि वह किसी भी जीवको किसी समय किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचावे। भगवत्प्राप्तिकी तो बात ही दूर है, मांस खानेवालेको तो स्वर्गकी प्राप्ति भी नहीं होती। मनु महाराज कहते हैं—

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ (५।४८)

'प्राणियोंकी हिंसा किये बिना मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणिवध करनेसे स्वर्ग नहीं मिलता, अतएव मांसका त्याग करना चाहिये।'

(२) समस्त चराचर जगत्के रचयिता परमपिता परमात्माकी दृष्टिमें सभी जीव समान हैं, या यों कहना चाहिये कि उनके द्वारा रचित होनेके कारण सब उन्हींकी संतान हैं। इसीलिये भक्तिकी दृष्टिमें सभी जीव अपने भाईके समान होते हैं, इस रहस्यके जाननेवाले ईश्वर-भक्तके लिये परमपिता परमात्माकी संतान अपने बन्धुरूप किसी भी प्राणीको मारना तो दूर रहा,वह किसीको किंचित् कष्ट भी नहीं पहुँचा सकता। जो लोग इस बातको न समझकर स्वार्थवश दूसरे जीवोंकी हिंसा करते हैं और हिंसा करते हुए ही अपने ऊपर ईश्वरकी दया चाहते हैं और ईश्वर-प्राप्तिकी कामना करते हैं, वे बड़े भ्रममें हैं। प्राणि-वध करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्योंपर ईश्वर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं? किसी पिताका एक लड़का लोभवश अपने दूसरे निर्दोष भाइयोंको सताकर या मारकर जैसे पिताका कोपभाजन होता है, वैसे ही प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले लोग ईश्वरकी अप्रसन्नता और कोपके पात्र होते हैं।

(३) धर्ममें सबसे पहला स्थान अहिंसाको दिया गया है। और सब तो धर्मके अङ्ग हैं, परंतु अहिंसा परम धर्म है—'**अहिंसा परमो धर्मः ।**' (महाभारत, अनु० ११५। २५) धर्मका तात्पर्य अहिंसामें है। धर्मको माननेवाले सभी लोग अहिंसा और त्यागकी प्रशंसा करते हैं। जो धर्म मनुष्यकी वृत्तियोंको अहिंसा, त्याग, निवृत्ति और संयमकी ओर ले जाता है, वही यथार्थ धर्म है। जिस धर्ममें इन बातोंकी कमी है, वह धर्म अधूरा है। मांस-भक्षण करनेवाले अहिंसा-धर्मका हनन करते हैं, धर्मका हनन ही पाप है। कोई यह कहे कि हम स्वयं जानवरोंको न तो मारते हैं और न मरवाते हैं, दूसरोंके द्वारा मारे हुए पशु-पक्षियोंका मांस खरीदकर खाते हैं, इसलिये हम प्राणिहिंसाके पापी क्यों माने जायँ ? इसका उत्तर स्पष्ट है। हिंसा मांसाहारियोंके लिये ही की जाती है। कसाईखाने मांस खानेवालोंके लिये ही बने हैं। यदि मांसाहारी लोग मांस खाना छोड़ दें तो प्राणिवध कोई किसलिये करे ? फिर यह भी समझनेकी बात है कि केवल अपने हाथों किसीको मारनेका नाम ही हिंसा नहीं है। महर्षि पतञ्जलिने हिंसाके मुख्यतया सत्ताईस भेद बतलाये हैं। यथा—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।

(योग० २। ३४)

अर्थात् 'स्वयं हिंसा करना, दूसरेसे करवाना और हिंसाका समर्थन करना—यह तीन प्रकारकी हिंसा है। यह तीन प्रकारकी हिंसा लोभ, क्रोध और अज्ञानके हेतुओंसे होनेके कारण (३×३=९) नौ प्रकारकी हो जाती है। और नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्रासे होनेसे (९×३=२७) सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है। इसी तरह मिथ्या-भाषण आदिका भी भेद समझ लेना चाहिये। ये हिंसादि सभी दोष दुःख और अज्ञानरूप फलको देनेवाले हैं—ऐसा विचार करना ही प्रतिपक्ष-भावना है।' यही सत्ताईस प्रकारकी हिंसा शरीर, वाणी और मनसे होनेके कारण इक्यासी भेदोंवाली बन जाती है। इसलिये स्वयं न मारकर दूसरोंके द्वारा मारे हुए पशुओंका मांस खानेवाला भी वास्तवमें प्राणिहिंसक ही है। मनु महाराज कहते हैं—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

(मनु० ५। ५१)

'सलाह-आज्ञा देनेवाला, अङ्ग काटनेवाला, मारनेवाला, मांस खरीदनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—ये सभी घातक कहलाते हैं।' इसी प्रकार महाभारतमें कहा है—

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥
आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते ॥

(महा०, अनु० ११५। ४०,४९)

'मांस खरीदनेवाला धनसे प्राणीकी हिंसा करता है, खानेवाला उपभोगसे करता है और मारनेवाला मारकर तथा बाँधकर हिंसा करता है, इस प्रकार तीन तरहसे वध होता है। जो मनुष्य मांस लाता है, जो मँगाता है, जो पशुके अङ्ग काटता है, जो खरीदता है, जो बेचता है, जो पकाता है और जो खाता है, वे सभी मांस खानेवाले (घातकी) हैं।'

अतएव मांस-भक्षण धर्मका हनन करनेवाला होनेके कारण सर्वथा महापाप है। धर्मके पालन करनेवालेके लिये हिंसाका त्यागना पहली सीढ़ी है। जिसके हृदयमें अहिंसाका भाव नहीं है, वहाँ धर्मको स्थान ही कहाँ है ?

(४) भीष्मपितामह राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं—

मां स भक्षयते यस्माद्भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत ॥

(महा०, अनु० ११६। ३५)

'हे युधिष्ठिर ! वह मुझे खाता है, इसलिये मैं भी उसे खाऊँगा, यह मांस शब्दका मांसत्व है ऐसा समझो।' इसी प्रकारकी बात मनु महाराजने कही है—

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

(मनु० ५। ५५)

'मैं यहाँ जिसका मांस खाता हूँ, वह परलोकमें मुझे (मेरा मांस) खायगा। मांस शब्दका यह अर्थ विद्वान् लोग किया करते हैं।'

आज यहाँ जो जिस जीवके मांसको खायेगा, किसी समय वही जीव उसका बदला लेनेके लिये उसके मांसको खानेवाला बनेगा। जो मनुष्य जिसको जितना कष्ट पहुँचाता है, समयान्तरमें उसको अपने किये हुए कर्मके फलस्वरूप वह कष्ट और भी अधिक मात्रामें (मय ब्याजके) भोगना पड़ता है, इसके सिवा यह भी युक्तिसंगत बात है कि जैसे हमें दूसरेके द्वारा सताये और मारे जानेके समय कष्ट होता है, वैसा ही सबको होता है। परपीड़ा महापातक है, पापका फल सुख कैसे होगा? इसीलिये भीष्मपितामह कहते हैं—

कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः॥

(महा०, अनु०११६। ३१)

'मांसाहारी जीव अनेक योनियोंमें उत्पन्न होते हुए अन्तमें कुम्भीपाक नरकमें यन्त्रणा भोगते हैं और दूसरे उन्हें बलात्कारसे दबाकर मार डालते हैं और इस प्रकार वे बार-बार नाना योनियोंमें भटकते रहते हैं।'

(५) भगवान्ने सृष्टिमें जिस प्रकारके जीव बनाये हैं, उनके लिये उसी प्रकारके आहारकी रचना की है। मांसाहारी सिंह, कुत्ते, भेड़िये आदिकी आकृति और उसके दाँत, जबड़े, पंजे, नख और हड्डी आदिसे मनुष्यकी आकृति और उसके दाँत, जबड़े, पंजे, नख और हड्डीकी तुलना करके देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्यका खाद्य अन्न, दूध, फल और शाक आदि ही है। जल-चिकित्साके प्रसिद्ध आविष्कारक लूईकूने महोदयने भी कहा है कि 'मनुष्य मांसभक्षी प्राणी नहीं है, वह तो मांस-भक्षण करके मनुष्यकी प्रकृतिके विरुद्ध कार्य कर नाना प्रकारकी विपत्तियोंको बुलाता है।' मनुष्यकी प्रकृति स्वाभाविक ही सौम्य है। सौम्य प्रकृतिवाले जीवोंके लिये अन्न, दूध, फल, शाक आदि सौम्य पदार्थ ही स्वाभाविक भोज्य पदार्थ हैं। गौ, बकरी, कबूतर आदि सौम्य प्रकृतिके पशु-पक्षी भी मांस न खाकर घास, चारा, अन्न आदि ही खाते हैं। मांसाहारी पशु-पक्षियोंकी आकृति सहज ही क्रूर और भयानक होती है। शेर, बाघ, बिल्ली, कुत्ते आदिको देखते ही इस बातका पता लग जाता है, महाभारतमें कहा है—

इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगर्द्धिनः।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव॥
अपूपान् विविधाकारान् शाकानि विविधानि च।
खाण्डवान् रसयोगान्न तथेच्छन्ति यथामिषम्॥

(महा०, अनु० ११६। १-२)

'शोक है कि जगत्में क्रूर मनुष्य नाना प्रकारके पवित्र खाद्य पदार्थोंको छोड़कर महान् राक्षसकी भाँति मांसके लिये लालायित रहते हैं तथा भाँति-भाँतिकी मिठाइयों, तरह-तरहके शाकों, खाँड़की बनी हुई वस्तुओं और सरस पदार्थोंको भी वैसा पसंद नहीं करते जैसा मांसको।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि मांस मनुष्यका आहार कदापि नहीं है।

(६) भोजनसे ही मन बनता है, 'जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन' कहावत प्रसिद्ध है। मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है, उन्हीं पशु-पक्षियोंके-से गुण, आचरण आदि उसमें उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी आकृति क्रमशः वैसी ही बनती जाती है। इससे वह इसी जन्ममें मनुष्योचित स्वभावसे प्रायः च्युत होकर पशु-स्वभावापन्न क्रूर और अमर्यादित जीवनवाला बन जाता है और मरनेपर वैसी ही भावनाके फलस्वरूप तथा अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये उन्हीं पशु-पक्षियोंकी योनियोंको प्राप्त होकर महान् दुःख भोगता है।

इससे सिद्ध है कि मांसाहारी मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है, वैसा ही पशु-पक्षी आगे चलकर स्वयं बन जाता है।

(७) जब हम किसी जीवके प्राणोंका संयोग करनेकी शक्ति नहीं रखते, तब हमें उनके प्राणहरण करनेका वस्तुतः कोई अधिकार नहीं है। यदि करते हैं तो वह महान् अत्याचार और पाप है। मांसाहारी ऊपर लिखे अनुसार स्वयं प्राणिवध न करनेवाला हो तो भी प्राणिवधका दोषी है ही, क्योंकि प्रकारान्तरसे वही तो प्राणिहिंसामें कारण है।

(८) मांसाहारी मनुष्य निर्दय हो ही जाता है, और जिसमें दया नहीं है उसके अधर्मी होनेमें क्या संदेह है? मांसभक्षी मनुष्य इस बातको भूल जाता है कि 'मांस खाकर कितना बड़ा निर्दय कार्य कर रहा हूँ। मेरी तो थोड़ी देरके लिये केवल क्षुधाकी निवृत्ति होती है, परंतु बेचारे पशु-पक्षीके प्राण सदाके लिये चले जाते हैं। प्राणनाशके समान कौन दुःख है, इसीसे सभी प्राणी प्राणनाशसे डरते हैं।

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायेत वेपथुः ॥

(महा॰, अनु॰ ११६। २७)

'हे भारत ! मरण सभी जीवोंके लिये अनिष्ट है, मरणके समय सभी जीव सहसा काँप उठते हैं।'

जिस मनुष्यके हृदयमें दया होती है, वह तो दूसरेके दुःखको देख-सुनकर ही काँप उठता है और उसके दुःखको दूर करनेमें लग जाता है। परंतु जो क्रूरहृदय मनुष्य पापी पेटको भरने और जीभको स्वाद चखानेके लिये प्राणियोंका वध करते हैं, वे तो स्वाभाविक ही निर्दयी हैं। निर्दयी मनुष्य भगवान्‌से या अन्यान्य जीवोंसे कभी दयाकी माँग नहीं कर सकता ।

दयालु पुरुष ही संकटके समय ईश्वरकी तथा अन्यान्य जीवोंकी दयाका पात्र होता है। बड़े ही खेदका विषय है कि मनुष्य स्वयं तो किसीके द्वारा जरा-सा कष्ट पानेपर ही घबरा उठते हैं और चिल्लाने लगते हैं, परंतु निर्दोष मूक जीवोंको, इन्द्रियलोलुपता, बुरी आदत और प्रमादवश मार या मरवाकर खानेतकमें नहीं हिचकते।

मनुष्य सबमें बुद्धिमान् और स्वभावसे ही सबका उपकारी जीव माना गया है। यदि वह अपने स्वभावको भुलाकर निर्दयताके साथ पशु-पक्षियोंकी हिंसामें इसी प्रकार उतारू रहेगा तो बेचारे पशु-पक्षियोंका संसारमें निर्वाह ही कठिन हो जायगा। अतएव मनुष्यको दयालु बनना चाहिये।

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते।
तस्माद्दयां नरः कुर्याद् यथात्मनि तथापरे ॥

(महा॰, अनु॰११६। १२)

'इस संसारमें प्राणोंके समान कोई और प्रिय वस्तु नहीं है, अतएव मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया करता है, उसी प्रकार दूसरोंपर भी करे।'

(९) मांसाहार स्वाभाविक ही स्वास्थ्यका नाशक है, इस बातको अब तो यूरोपके भी अनेकों विद्वान् और डाक्टर लोग मानने लगे हैं। इसके सिवा एक बात यह भी है कि जिन पशु-पक्षियोंका मांस मनुष्य खाता है, उनमें जो पशु-पक्षी रोगी होते हैं, उनके रोगके परमाणु मांसके साथ ही मनुष्यके शरीरमें प्रवेशकर उसे भी रोगी बना डालते हैं। इंग्लैंडके एक प्रसिद्ध डाक्टरने लिखा था कि इंग्लैंडमें कैंसरके रोगी प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। एक इंग्लैंडमें इस भयानक रोगसे तीस हजार मनुष्य प्रतिदिन मरते हैं। यह रोग मांसाहारसे होता है। यदि मांसाहार इसी तेजीसे बढ़ता रहा तो इस बातका भय है कि भविष्यकी संतानमें ढाई करोड़ मनुष्य इस रोगके शिकार होंगे।'

मांस बहुत देरसे पचता है, इससे मांसाहारी मनुष्य प्रायः पेटकी बीमारियोंसे पीड़ित रहते हैं। इसके सिवा अन्य भी अनेक प्रकारके रोग मांसाहारसे होते हैं। शास्त्रोंमें भी कहा है कि मांसाहारियोंकी आयु घट जाती है—

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते।
तस्माद्धि वर्जयेन्मांसं य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥

(महा॰, अनु॰ ११५। ३१)

'हिंसाजनित पाप हिंसा करनेवालोंकी आयुको नष्ट कर देता है, अतएव अपना कल्याण चाहनेवालोंको मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये।'

(१०) यद्यपि शास्त्रोंमें कहीं-कहीं मांसका वर्णन आता है, परंतु उनमें मांसत्यागके सम्बन्धमें बहुत ही जोरदार वाक्य हैं। प्रायः सभी शास्त्रोंमें मांस-भक्षणकी निन्दा करके मांस-त्यागको अत्युत्तम बतलाया है। ऐसे हजारों वचन हैं, उनमें कुछ थोड़े-से यहाँ दिये जाते हैं—

मनुस्मृति—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥

(५। ४५,४९)

'जो निरपराध जीवोंकी अपने सुखकी इच्छासे हिंसा करता है, वह जीता रहकर अथवा मरनेके बाद भी (इहलोक अथवा परलोकमें) कहीं सुख नहीं पाता। मांसकी उत्पत्तिका विचार करते हुए प्राणियोंकी हिंसा और बन्धनादिके दुःखको देखकर मनुष्यको सब प्रकारके मांस-भक्षणका त्याग कर देना चाहिये।'

यमस्मृति—

सर्वेषामेव मांसानां महान् दोषस्तु भक्षणे।
निवर्तने महत्पुण्यमिति प्राह प्रजापतिः ॥

'प्रजापतिका कथन है कि सभी प्रकारके मांसोंके भक्षणमें महान् दोष है और उससे बचनेमें महान् पुण्य है।'

महाभारत, अनुशासनपर्व—

लोभाद्वा बुद्धिमोहाद्वा बलवीर्यार्थमेव च।
संसर्गादथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम्॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते॥
इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः॥
(११५। ३५-३६,४७)

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः॥
शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते॥
(११६। ११,१३)

'लोभसे बुद्धिके मोहित हो जानेसे अथवा पापियोंका संसर्ग करनेसे बल और पराक्रमकी प्राप्तिके लिये मनुष्योंकी (हिंसारूप) अधर्ममें रुचि होती है।' 'जो मनुष्य अपने मांसको दूसरेके मांससे बढ़ाना चाहता है, वह जिस किसी योनिमें जन्म ग्रहण करता है, वहाँ दुःखी होकर ही रहता है।' 'जो अज्ञानी और अधम पुरुष देवपूजा, यज्ञ तथा वेदोक्त मार्गका आसरा लेकर मांसके लोभसे जीवोंकी हिंसा करता है, वह नरकोंको प्राप्त होता है।' 'जो मनुष्य दूसरोंके मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर कोई नीच नहीं है, वह अत्यन्त निर्दयी है।' 'हे तात! वीर्यसे मांसकी उत्पत्ति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है (इसलिये यह बहुत घृणित पदार्थ है)। इसके भक्षणमें महान् दोष और त्यागसे पुण्य होता है।'

मांस न खानेका फल

मनुस्मृति—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्॥
(५। ५३)

'जो सौ वर्षतक प्रतिवर्ष अश्वमेधयज्ञ करता है और जो किसी प्रकारका मांस नहीं खाता, उन दोनोंको बराबर पुण्य होता है।'

महाभारत, अनुशासनपर्व—

शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा॥
अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान् नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन् मांसं दयावान् प्राणिनामिह॥
हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्ट इति नः श्रुतिः॥
(११५। ३०, ४२-४३)

'मांस न खानेवाला और प्राणियोंपर दया करनेवाला मनुष्य समस्त जीवोंका आश्रयस्थान एवं विश्वासपात्र बन जाता है, उससे संसारमें किसीको उद्वेग नहीं होता और न उसको ही किसीसे उद्वेग होता है। उसे कोई भी भय नहीं पहुँचा सकता, वह दीर्घायु होता है और सदा नीरोग रहता है। मांसके न खानेसे जो पुण्य होता है, उसके समान पुण्य न तो सुवर्णदानसे होता है, न गोदानसे और न भूमिदानसे होता है।'

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हो जाता है कि मांस-भक्षण सभी प्रकारसे त्यागके योग्य है। मेरा नम्र निवेदन है कि जो भाई प्रमादवश मांस खाते हों, वे इसपर भलीभाँति विचारकर मनुष्यत्वके नाते, दया और न्यायके नाते, शरीर-स्वास्थ्य और धर्मकी रक्षाके लिये तथा भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये इन्द्रिय-संयमकर मांस-भक्षण सर्वथा छोड़कर सब जीवोंको अभयदान देकर स्वयं अभयपद प्राप्त करनेकी योग्यता लाभ करें। जो भाई मेरी प्रार्थनापर ध्यान देकर मांस-भक्षणका त्याग कर देंगे, उनका मैं आभारी रहूँगा और उनकी बड़ी दया समझूँगा। महात्मा तुलाधार श्रीजाजलिमुनिसे कहते हैं—

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किञ्चित् कथञ्चन।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने॥
यस्मादुद्विजते विद्वन् सर्वलोको वृकादिव।
क्रोशतस्तीरमासाद्य यथा सर्वे जलेचराः॥
तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाश्रितैस्तथा।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद्यत्फलमिहाश्नुते॥
लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम्।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम्॥
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।
(महा०, शान्ति० २६२। २८—३०)

'हे मुनिवर ! जिस मनुष्यसे किसी भी प्राणीको किसी प्रकार कष्ट नहीं पहुँचता, उसे किसी भी प्राणीसे भय नहीं रह जाता। जिस प्रकार बडवानलसे भयभीत होकर सभी जलचर जन्तु समुद्रके तीरपर इकट्ठे हो जाते हैं, उसी प्रकार हे विद्वद्वर ! जिस मनुष्यसे भेड़ियेकी भाँति सब लोग डरते हैं, वह स्वयं भयको प्राप्त होता है।

अनेक प्रकारके तप, यज्ञ और दानसे तथा प्रज्ञायुक्त उपदेशसे जो फल मिलता है, वही फल जीवोंको अभयदान देनेसे प्राप्त होता है।

जो मनुष्य इस संसारके सभी प्राणियोंको अभयदान दे देता है, वह सारे यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुकता है और बदलेमें उसे सबसे अभय प्राप्त होता है, अतएव प्राणियोंको कष्ट न पहुँचानेसे बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है।'

आत्माका स्वरूप

(डॉ॰ श्रीरामेश्वरप्रसादजी गुप्त)

मृत्युके स्वामी धर्मराज यमका निकेतन। शुद्ध-बुद्धि नचिकेता यमराजका अतिथि। परंतु उस राजप्रासादमें नचिकेता तीन दिनसे विना भोजनके अवधीरित। धर्मराज अतिथि-अवधीरणा से चिन्तित हुए। अतिथिका यथाशक्ति सम्मान किया गया और तीन दिनकी अतिथि-अवधीरणाके बदलेमें अतिथिको इच्छानुसार तीन वरदान-प्राप्तिका अधिकार मिला।

'वरदान' शब्दमात्रसे देवता भी इन्द्रासन-प्राप्तिकी इच्छा सहज ही करने लगते हैं, मनुष्य या अन्य प्राणियोंकी तो बात ही क्या है ? परंतु नचिकेता विचित्र ही प्राणी था, जिसने प्रथम वरदानमें अपने माता-पिताकी शान्ति, स्वस्थचित्तता एवं अपने प्रति उनकी प्रसन्नताको चाहा। द्वितीय वरमें स्वर्गीय अग्निके बोधकी इच्छा की। अब अन्तिम वरदान ही तो शेष था और राजा यमके प्रलोभनोंकी अविरल पङ्क्ति—गज, अश्व, स्वर्ण, पृथ्वी, अप्सराएँ और अलौकिक भोग। किंतु विचित्र तो विचित्र ही होता है। जिन भोगोंके लिये सांसारिक प्राणी लालायित रहते हैं, वे भोग नचिकेताके लिये हेय थे। उसे तो कुछ और ही चाहिये, परंतु उसे स्थूल या ठोस कुछ भी नहीं चाहिये। उसे चाहिये केवल सूक्ष्म और वह भी ज्ञान। विश्वमें ज्ञान पुस्तकोंमें भले ही महत्ताको प्राप्त हो, धन, ऐश्वर्य, भोगके आकर्षणके आगे वह सदैव तिरस्कृत रहा है। बड़े-बड़े ज्ञानी—नारद-युधिष्ठिर आदि भी उस धनाकर्षणका तिरस्कार नहीं कर सके। बड़ी विचित्रता थी कि सहज ही प्राप्त होनेवाले अलौकिक ऐश्वर्यको नचिकेताने ऐसे ठुकरा दिया जैसे वह धूल हो।

वरदान श्रेष्ठ दान है तो श्रेष्ठ दान ही क्यों न लिया जाय ? प्रत्येक प्राणी उस सच्चिदानन्दका रूप है तो वरदानमें उस सच्चिदानन्दकी स्थितिको ही क्यों न जाना जाय ? जब भोग जलवीचिके समान नश्वर है तो भोगके उत्तुङ्ग शिखरपर बैठकर भी क्या कर लेगा मनुष्य ? क्षणभरमें ही जब भोग रोगमें बदल सकते हैं, तब ऐसे अत्यन्त अस्थिर चञ्चल भोगसे लाभ क्या ? नचिकेताने महादानी धर्मराजसे तृतीय वर माँगा—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

(कठ॰ १।१।२०)

'मृतके विषयमें जो यह संशय है—कोई कहता है कि वह (आत्मा) है, कोई कहता है कि वह नहीं है, मुझे तद्विषयक ज्ञान दीजिये, यह (मेरा) तीसरा वर है।'

यमराजने नचिकेताको उक्तविषयक रहस्यका परिज्ञान करानेकी असमर्थता व्यक्त नहीं की, परंतु वह पात्र है या नहीं, यह जाननेके लिये भोगसम्पत्तिके प्रलोभनोंकी अपार सरिता प्रवाहित कर दी। भला, स्थिरधी नचिकेता भोगामृतकी सरस सरितामें अवगाहनके लिये क्यों कर तत्पर होता, जिसका अन्त केवल डूबना है। जब कामनाएँ मनकी ही हैं, तब उनका क्या विश्वास ? रमणीया अप्सराओंके साथ दीर्घकालतक रमण, इच्छानुसार भोग, परंतु उसका अन्त तो है। मनका साम्राज्य भले ही बृहत्से भी बृहत् हो, उसका आधार केवल इच्छापर

ही तो आश्रित है और इच्छाओंका अन्त दुःखके अतिरिक्त और क्या है?

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

(कठ० १।१।२६)

'जितना भी वैभव है, वह क्षणभङ्गुर है। इसमें समस्त इन्द्रियोंका तेज क्षीण हो जाता है। दीर्घायु भी भोगीके लिये अत्यल्प है। (हे धर्मराज!) ये भोग-ऐश्वर्य आप अपने पास ही रखिये। नचिकेताको नहीं चाहिये।'

आत्मबल सर्वोत्तम एवं सर्वोपलब्धिका आधार है। आत्माका साक्षात्कार निश्छलतारूपी सबलतासे होता है। इसीको वेद स्पष्टतया कहते हैं कि '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।**' बल निश्छलता है और निश्छलता है निर्विकारभाव। निर्विकारभाव ही समत्वको देता है और समत्व ही योग है। यही योग आत्मसाक्षात्कार करानेका दर्शन है। धर्मराजने नचिकेताको योगीके रूपमें देखा और देखा आत्मसाक्षात्कारके लिये योग्य पात्रके रूपमें। पात्रके लिये ज्ञान देनेमें आचार्यको परम संतोष होता है। धर्मवेत्ता यमराजने सांसारिक भोगोंके प्रति पूर्णरूपसे निर्लोभी-संयमी नचिकेताकी प्रशंसा की—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥

(कठ० १।२।३)

'तुमने प्रिय और लुभावने कामभोगोंको भलीभाँति विचार करके ही त्याग दिया है। तुम इस धनादिकी परम्परासे अछूते रहे, जिसमें पड़कर बहुत-से मनुष्य डूब मरते हैं।'

यमराजने नचिकेतासे आत्माके स्वरूपके विषयमें कहना प्रारम्भ किया कि 'यह आत्मा सूक्ष्म है एवं तर्कसे ज्ञात होने योग्य नहीं है?—

'अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्।'

(कठ०१।२।८)

उस आत्माके विषयमें यमराजने स्पष्ट किया कि 'उस दुर्दर्शनीय गुप्त छिपे हुए गुहालीनकी भाँति अज्ञात, सनातन देव आत्माको धैर्यवान् ही अध्यात्मयोगसे जानकर हर्ष और शोकसे मुक्त हो जाते हैं।'—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठ० १।२।१२)

कौन है वह परमतत्त्व, जो शरीरधारियोंके अन्तरमें विद्यमान उनकी चेतना एवं उनके प्राणोंका आधार है। क्या वह दृश्य है, स्पृश्य है, मूर्त है या अमूर्त है? या सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है? वह किस रूपमें ज्ञातव्य है? किस रूपमें उसकी सत्ता है? प्रश्नोंकी ये पङ्क्तियाँ सहज ही प्रस्फुरित हो उठती हैं। धर्मराजने सभी प्रश्नोंका उत्तर 'आत्मा'के एक ही रूप 'ओम्' से दिया—

'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्'।

(कठ० १।२।१५)

यह आत्मा 'ओम्' अक्षर, ब्रह्म (व्यापक) एवं सर्वोपरि है, जिसे जानकर प्राणीको सर्वस्व प्राप्त हो जाता है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ०१।२।१६)

अपि च—यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत एवं पुरातन है—

'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः।'

(कठ०१।२।१८)

और भी—यह आत्मा शरीरके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता—

'न हन्यते हन्यमाने शरीरे।'

(कठ० १।२।१८)

सर्वसत्तात्मक गुण होनेपर भी यदि आत्माके रूपका दर्शन या बोध न हो तो उसे कैसे समझा जाय? यह प्रश्न स्वतः ही उठता है। 'आत्मा' ओम् है। परंतु औत्सुक्य तो यह है कि उसका दर्शन किसे और कैसे हो सकता है? क्या वह इतना सूक्ष्म है कि उसे किसीके द्वारा भी नहीं देखा जा

सकता ? भगवान् यम जानते थे कि नचिकेता आत्माके केवल गुण-बोधसे संतुष्ट नहीं हो सकता, उसे आत्माका दर्शन भी कराना होगा। धर्मराजने आत्माके मूर्तरूपको स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि यह शाश्वत आत्मा सूक्ष्मतम तो है, किंतु इसका आकार भी है और निवास-स्थान भी। 'यह आत्मा अङ्गुष्ठमात्र निर्धूम ज्योतिके समान प्रकाशमान है।'

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।'

(कठ०२।१।१३)

आत्माका निवासस्थल भी है। वह प्राणिमात्रके हृदयमें रहता है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।'

(कठ० २।३।१७)

स्पष्ट है कि आत्मा एक निर्मल ज्योति है, जो प्राणियोंके हृदयमें अनश्वरके रूपमें—उसकी चेतनाके रूपमें निवास करता है।

यमराजका नचिकेताको उद्बोधन है कि उक्त आत्मा दृश्य है। वह आत्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म-रूप होते हुए भी कामनाहीन, शोकरहित एवं निर्मलमन प्राणीके लिये महत्‌से भी महत्-रूपमें अपना साक्षात्कार कराता है एवं सूक्ष्मदर्शियों-द्वारा अपनी श्रेष्ठ एवं कुशाग्र-बुद्धिसे दृश्य है।

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

(कठ०१।२।२०)

अपि च—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठ०१।३।१२)

यह आत्मा कामी, अशान्त, अजितेन्द्रिय और चञ्चल मनवालेको दर्शन नहीं देता। यह तो केवल प्रज्ञान और स्थैर्यसे ही दृश्य होता है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १।२।२४)

शरीर-रथमें आत्मा 'रथी' के रूपमें विद्यमान है। बुद्धि सारथि और मन प्रग्रह है। इन्द्रियाँ अश्व तथा विषय उनके मार्ग हैं। इन्द्रियों और मनसे युक्त आत्मा ही भोक्ता है।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठ० १।३।४)

असंयत सारथिकी इन्द्रियाँ नियन्त्रणमें नहीं रहतीं, परंतु ज्ञानीकी इन्द्रियाँ मनरूपी लगामके नियन्त्रणसे व्यवस्थित रहती हैं। ऐसा ज्ञानी सदा सावधान रहता हुआ पवित्रात्मा होता है और ऐसा प्राणी आत्माका दर्शन करता हुआ परमात्म-तत्त्वको भी प्राप्त कर लेता है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

(कठ० १।३।८)

सांसारिक प्राणी यदि बाह्य विषयोंमें जानेवाली इन्द्रियोंको संयमित करके दृष्टिको अन्तर्गामी करे तो वह आत्माका दर्शन प्राप्त कर सकता है।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

(कठ० २।१।१)

वह आत्मा उस (स्थिरप्रज्ञ) से नहीं छिपता—

न ततो विजुगुप्सते एतद्वै तत्।

(कठ०२।१।१२)

शरीरोपरान्त यही अङ्गुष्ठमात्र प्रकाश (आत्मा) शरीरसे पृथक् हो जाता है। अज्ञानीका आत्मा (कर्मबन्धनके कारण) शरीर पानेके लिये पुनः गर्भमें प्रवेश करता है और ज्ञानीका आत्मा निश्चल ब्रह्ममें प्रवेश करता है—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

(कठ०२।२।७)

निष्कर्षतः वह परम ज्योतिर्मय आत्मा, जो कि स्थिरप्रज्ञोंद्वारा दृश्य है, पवित्र और अमृत है एवं उसे जानकर प्राणी भी जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

भजन क्यों नहीं होता ?

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भगवान् एक हैं, उन्हींसे अनन्त जगत्की—जगत्के समस्त चेतनाचेतन भूतोंकी उत्पत्ति हुई है, उन्हींमें सबका निवास है, वही सबमें सदा सर्वत्र व्याप्त हैं, अतएव उनकी भक्तिका, उनके ज्ञानका और उनकी प्राप्तिका अधिकार सभीको है। किसी भी देश, जाति, धर्म, वर्ण, वर्गका कोई भी मनुष्य—स्त्री-पुरुष अपनी-अपनी विशुद्ध पद्धतिसे भगवान्का भजन कर सकता है और उन्हें प्राप्त कर सकता है। परंतु भजनमें एक बड़ी बाधा है—वह बाधा है भगवान्में अविश्वास और संसारके भोगोंमें विश्वास; बस, इसी कारण—इसी मोह या अविद्याके जालमें फँसा हुआ मनुष्य भगवान्का कभी स्मरण नहीं करता और भोग-विषयोंके लिये विभिन्न प्रकारके कुकार्य करनेमें अपने अमूल्य जीवनको खोकर आगेके लिये भयानक दुःखभोगके अचूक साधन उत्पन्न कर लेता है। मनुष्यमें कमजोरी होना आश्चर्य नहीं, वह परिस्थितिवश पापकर्म भी कर सकता है, परंतु यदि उसका भगवान्पर विश्वास है, भगवान्के सौहार्द और उनकी कृपापर अटूट और अनन्य श्रद्धा है तो वह भगवान्का आश्रय लेकर पाप-समुद्रसे उबर जाता है और भगवान्की सुखद गोदको प्राप्त कर लेता है। परंतु जो भोगोंको ही जीवनका एकमात्र ध्येय और सुखका परम साधन मानकर उन्हींका आश्रय ले दिन-रात उन्हींके चिन्तन, मनन और उन्हींकी प्राप्तिके प्रयत्नमें तल्लीन रहता है, उसका जीवन तो पापमय बन जाता है, वह कभी भगवान्को भजता ही नहीं। भगवान्ने गीतामें दो प्रकारके पापियोंका वर्णन किया है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(७।१५)

'वे पापकर्म करनेवाले मनुष्य तो मुझको (भगवान्को) भजते ही नहीं, जो मनुष्य-जीवनके परम लक्ष्य (भगवत्प्राप्ति) को भूलकर प्रमाद तथा विषयसेवनमें लगे रहनेकी ही मूढ़ताको स्वीकार कर चुके हैं, जो विषयासक्ति तथा विषयकामनाके वश होकर नीच कर्मोंमें ही लगे रहते हैं और अपने मानव-जीवनको अधम बना चुके हैं, मायाके द्वारा जिनका विवेक हरा जा चुका है और जो आसुरी भाव—काम, क्रोध, लोभादिका आश्रय लेकर जीवनको आसुरी बना चुके हैं।' ऐसे लोग न तो भगवान्में श्रद्धा रखते हैं और न भजनकी ही आवश्यकता समझते हैं, वे दिन-रात नये-नये पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त होते रहते हैं, विविध प्रकारके पाप करके गौरवका अनुभव करते और सफलताका अभिमान करते हैं एवं पापोंको ही जीवनका सहारा मानकर उत्तरोत्तर गहरे भव-समुद्रमें डूबते जाते हैं।

दूसरे वे पापी हैं, जो परिस्थिति या दुर्बलताके कारण बड़े-से-बड़ा पापकर्म तो कर बैठते हैं, परंतु वे उस पापको पाप समझते हैं, पाप करके पश्चात्ताप करते हैं, पाप उनके हृदयमें शूल-से चुभते हैं और वे उनसे त्राण पाने तथा भविष्यमें पापकर्म सर्वथा न बनें, इसके लिये सदा चिन्तित और सचेष्ट रहते हैं; ऐसे लोग कहीं आश्रय, आश्वासन न पाकर अन्तमें भगवान्को ही परम आश्रय मानकर करुणभावसे उनको पुकारते हैं। भगवान् कहते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९।३०-३१)

'अत्यन्त दुराचारी (पापकर्मा मनुष्य) भी यदि मुझ (भगवान्) को ही एकमात्र शरणदाता—परम आश्रय मानकर दूसरे किसीका कोई भी आशा-भरोसा न रखकर (पापनाश और मेरी भक्तिकी प्राप्तिके लिये) केवल मुझको ही भजता है, आर्त होकर एकमात्र मुझको ही पुकार उठता है, उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने एकमात्र मुझ (भगवान्) को ही परम आश्रय मानने और केवल मुझको ही पुकारनेका सम्यक् निश्चय कर लिया है। केवल माननेकी ही बात नहीं, वह तुरंत ही धर्मातमा (पापकर्मासे बदलकर धर्मस्वरूप) बन जाता है और भगवत्प्राप्तिरूप परमा शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम यह सत्य समझो कि मुझको इस प्रकार भजनेवाले भक्तका कभी नाश (अधःपात) नहीं होता।'

इन दोनों प्रकारके पापियोंमें यही अन्तर है कि पहला

पापको पाप न मानकर गौरव तथा अभिमानकी वस्तु मानता है, वह काम-क्रोध-लोभादिरूप आसुरभावको ही परम आश्रय समझकर उसीके परायण रहता है तथा नीच कर्मोंकी सिद्धिमें ही सफलताका अनुभव करता है और दूसरा पापी पापको पाप मानकर उनसे छूटना चाहता है और शरणागतवत्सल भगवान्‌को ही एकमात्र परम आश्रय मानकर परम श्रद्धाके साथ उनका भजन करना चाहता है। इसीसे यह भजन कर सकता है और शीघ्र ही पापमुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है।

पाप बननेमें प्रधान कारण है पापमें अज्ञानपूर्ण श्रद्धा या आस्था। मनुष्यकी विषयोंमें आसक्ति तथा कामना होती है और सङ्ग-दोषसे वह पापोंको ही उनकी प्राप्ति तथा संरक्षण-संवर्धनमें हेतु मान लेता है। फिर उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक पापोंमें ही लगा रहता है। संसारबन्धनसे छूटनेके लिये निष्कामभावसे तो वह भगवान्‌को भजनेकी कल्पना भी नहीं कर पाता, सकामभावसे भी भगवान्‌को नहीं भजता, उधर उसकी वृत्ति जाती ही नहीं और वह दिन-रात नये-नये पापोंमें उलझता हुआ सदा-सर्वदा अशान्तिका अनुभव करता है तथा परिणाममें घोर नरकोंकी यातना भोगनेको बाध्य होता है! भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६।२०)

'अर्जुन! ऐसे मूढ (मनुष्य-जन्मके चरम और परम लक्ष्य) मुझ (भगवान्) को न पाकर जन्म-जन्ममें—हजारों-लाखों बार आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं। तदनन्तर उससे भी अधम गतिमें — नरकोंमें जाते हैं।'

भवाटवीमें भटकते हुए जीवको अकारणकरुण भगवान् कृपा करके मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं, यह देवदुर्लभ शरीर मिलता ही है केवल भगवत्प्राप्तिका सफल साधन करनेके लिये। इसीके लिये इस जीवनमें विशेषरूपसे 'बुद्धि' दी जाती है, पर मनुष्य परमात्माकी दुर्लभ देन—उसी बुद्धिको भोगासक्तिसे पापार्जनमें लगाकर केवल भगवत्प्राप्तिके साधनसे ही वञ्चित नहीं होता, वरं बहुत बड़े पापोंका बोझ लादकर दुर्गतिको प्राप्त होता है! यह मानवजीवनकी सबसे बड़ी और महान् दुर्भाग्यरूप विफलता है। इसीसे विषयानुरागी मनुष्यको भाग्यहीन बतलाया गया है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

× × ×

ते नर नरकरूप जीवत जग
भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।
निसि-बासर रुचि-पाप असुचि-मन
खल मति-मलिन, निगम पथ-त्यागी॥

× × ×

तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि
सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन
जनमत जगत जननि दुख लागी॥

अतः मानव-जन्मकी सफलता इसीमें है कि मनुष्य अथक प्रयत्न करके भगवान्‌को या भगवत्प्रेमको प्राप्त कर ले। कम-से-कम भगवत्प्राप्तिके पवित्र मार्गपर तो आरूढ़ हो ही जाय। इसके लिये सत्सङ्ग करे और सत्सङ्गमें भगवान्‌के स्वरूप, महत्त्व तथा उनकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका एकमात्र परम उद्देश्य है—यह जानकर उसीमें लग जाय। मनुष्यको यह बड़ा भारी मोह हो रहा है कि 'सांसारिक भोगोंमें सुख है।' यह मोह जबतक नहीं मिटता, तबतक वह कभी किसी देवताका आराधन भी करता है तो इसके फलस्वरूप वह सांसारिक विषय भोग ही चाहता है। वह छूटना तो चाहता है दुःखसे और प्राप्त करना चाहता है सुखको, परंतु विषय-सुखकी भ्रान्तिवश मोहसे वह बार-बार प्राप्त करना चाहता है विषय-भोगोंको ही, जो दुःखके उत्पत्ति-स्थान हैं—दुःखके खेत हैं—**'दुःखयोनय एव ते।'**

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

सत्सङ्गके बिना भगवत्कथा सुननेको नहीं मिलती। भगवत्कथाके बिना उपर्युक्त मोहका नाश नहीं होता और मोह मिटे बिना श्रीभगवच्चरणोंमें दृढ़ प्रेम नहीं होता।

यह प्रबल मोहकी ही महिमा है कि बार-बार दुःखका अनुभव करता हुआ भी मनुष्य उन्हीं दुःखदायी भोगोंको

चाहता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहिं भजै॥
लोलुप भ्रम गृहपसु ज्यौं जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ लजै॥

'जैसे युवती स्त्री संतान-प्रसवके समय दारुण दुःखका अनुभव करती है, परंतु वह मूर्खा सारी वेदनाको भूलकर पुनः उसी दुःखके स्थान पतिका सेवन करती है। जैसे लालची कुत्ता जहाँ जाता है, वहीं उसके सिरपर जूते पड़ते हैं तो भी वह नीच पुनः उसी रास्ते भटकता है, उस मूढको जरा भी लाज नहीं आती।'

बस, यही दशा मोहग्रस्त मानवकी है। बार-बार दुःखका अनुभव करनेपर भी वह उन्हीं विषयोंमें सुख खोजता है। इसी मोहके कारण वह भगवान्‌का भजन नहीं करता।

भगवत्कृपासे जब यथार्थ सत्सङ्ग-सूर्यका उदय होता है, तब मनुष्यकी मोह-निशा भङ्ग होती है और वह विवेकके मङ्गल-प्रभातका दर्शन प्राप्त करता है। यथार्थ सत्सङ्ग वही है जो इस मोहका नाश करनेमें समर्थ हो। जिस सङ्गसे विषय-विमोह और विषयासक्ति बढ़ती है, वह तो कुसङ्ग ही है। यह मोहकी ही महिमा है कि अपनेको साधु, जीवन्मुक्त, भक्त या महात्मा मानने तथा बतलानेवाले लोग भी विषयकामना करते और विषयोंका महत्त्व मानते हैं। सच्चे संत, महात्मा या भक्त तो वही हैं जिनका विषय-विमोह या भोग-विभ्रम सर्वथा मिट गया है। जिनकी दृष्टिमें सांसारिक विषयोंका भगवान्‌के अतिरिक्त कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है और रहा है तो विनोद या खेलके रूपमें ही। अथवा उन संत-साधकोंका सत्सङ्ग भी बड़ा लाभदायक है, जिनकी दृष्टिमें संसारके भोग विष या मलके सदृश घृणित और त्याज्य हो चुके हैं। जो मनुष्य विषय-भोगोंका बाहरसे त्याग करके यह मानता है कि 'मैंने बहुत बड़ा त्याग किया है, कैसे-कैसे महत्त्वपूर्ण विषयोंको छोड़कर—घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, धन-ऐश्वर्य, पद-अधिकारका परित्याग कर वैराग्यको ग्रहण किया है। वह

पद-अधिकारका परित्याग कर वैराग्यको ग्रहण किया है। वह

बाहरसे भोगपदार्थोंका त्याग करनेवाला होनेपर भी वस्तुतः मनसे भोगोंका त्याग नहीं कर पाया है; क्योंकि उसके मनमें भोगोंकी स्मृति और उनकी महत्ता बनी हुई है, तभी तो वह अपनेको 'बड़ा त्यागी' मानता है। क्या जंगलमें या पाखानेमें मल त्यागकर आनेवाला मनुष्य कभी तनिक भी मनमें गौरव करता है कि मैंने बड़े महत्त्वकी वस्तुका त्याग किया है? क्या उसे उसमें जरा भी अभिमानका अनुभव होता है? वह तो एक सहज आरामका अनुभव करता है। इसी प्रकार विषयभोगोंमें मल-बुद्धि या विष-बुद्धि होनेपर उनके त्यागमें आराम तो मिलता है, पर किसी प्रकारका अभिमान नहीं हो सकता; क्योंकि उसका वह त्याग भगवान्‌में महत्त्व-बुद्धि और भोगोंमें वास्तविक त्याग-बुद्धि होनेपर भी होता है। ऐसे पुरुषोंका जीवनचित्र ही भोग-लिप्साको दूर करनेवाला मूर्तिमान् सत्सङ्ग है। अथवा उनका सत्सङ्ग करना चाहिये जो भगवत्प्रेमके नशेमें चूर होकर या तो संसारको सर्वथा भूल चुके हैं या जिनको नित्य-निरन्तर समग्र जगत्‌में केवल अपने प्रियतमकी मधुर मनोहर झाँकी हो रही है।

सत्सङ्गके द्वारा जितना ही मोहका पर्दा हटेगा या फटेगा, उतना ही विषय-व्यामोह मिटकर भगवान्‌की ओर चित्तका आकर्षण होगा और उतनी ही अधिक भगवद्भजनमें प्रवृत्ति होगी। एवं ज्यों-ज्यों भजनमें निष्कामता, प्रेम और निरन्तरता आयेगी, त्यों-ही-त्यों मोह-निशाका अन्त समीप आता जायगा। फिर तो मोह मिटते ही भगवान् हृदयमें आ विराजेंगे। विराज तो अब भी रहे हैं, परंतु हमने अपनी अंदरकी आँखोंपर पर्दा डाल रखा है और उनके स्थानपर मलिन कामको बैठा रखा है, इसीसे वे छिपे हुए हैं। फिर प्रकट हो जायँगे और उनके प्रकट होते ही काम-तम भाग जायगा—

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकैं रबि रजनी इक ठाम॥

मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अंदर स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और वे भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं; मेरी योगमाया और प्रभावको देखो कि सब भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला मेरा आत्मा उन भूतोंमें स्थित नहीं है।—भगवान् श्रीकृष्ण

भगवान् शिवका मङ्गलमय नृत्य ताण्डव

(श्रीगंगारामजी शास्त्री)

भगवान् शंकरको नटराज कहा जाता है। भरत मुनिके नाट्यशास्त्रमें बताया गया है कि एक बार पितामह ब्रह्माके आदेशानुसार उनके द्वारा रचित अमृत-मन्थन समवकार (रूपकका एक भेद) का अभिनय दिखानेके लिये भरत-मुनिके शिष्य तथा देवगण मिलकर भगवान् शंकरके पास गये। वहाँ उसी प्रकार 'त्रिपुर-दाह' नामक डिमका अभिनय किया गया। उस अभिनयको देखकर महादेवजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि मैंने भी एक बार संध्याकालमें नर्तन करते हुए अङ्गहार और करणसहित जो अभिनय किया था, उसका मुझे स्मरण हो आया है। आपने यह शुद्ध पूर्वरंगका प्रयोग किया है, इसके साथ अनेक करण, अङ्गहार, वर्धमानक, गीत, महागीत आदिका भी मिश्रण होना चाहिये, तब उसे चित्र कहा जायगा। इसीको चित्र-ताण्डव कहा गया है। इसका आशय यही है कि अङ्गसंचालनके साथ जो अभिनय किया जाता है, उसीका एक भेद ताण्डव है। इसे शिवजीके आदेशानुसार उनके प्रमुखगण तण्डुने भरतको समझाया था, इसीलिये **'तेन प्रोक्तम्'** इस व्याकरण सूत्रके अनुसार इसका नाम ताण्डव हो गया। नाट्यशास्त्रमें कहा गया है—

रेचका अङ्गहाराश्च पिण्डीबन्धास्तथैव च ॥
सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा।
तेनापि हि ततः सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः ॥
नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः।

(४।२५९—२६१)

इसके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि ताण्डव एक प्रकारके नृत्यविशेषका ही नाम है, जिसे उस समय पुरुष किया करते थे—**'प्रायेणोद्धतप्रायं पुरुषकर्तृकं नृत्तं ताण्डवम्।'** संगीतरत्नाकरमें भी कहा गया है—**'तण्डूक्तमुद्धतप्रायं प्रयोगं ताण्डवं मतम्'** (७।३०)। सौन्दर्यलहरीकी आनन्दगिरि व्याख्यामें कहा गया है—**'ताण्डवं तु उद्धतप्रयोगप्रधानत्वात् प्रायेण पुरुषकर्तृकं भवति।'** इसीकी लक्ष्मीधरा टीकामें कहा गया है—**पुंकर्तृकं नृत्यं ताण्डवमित्युच्यते।'**

किंतु [illegible] जानेके कारण एक प्रकारसे यह शब्द शिवजीके नृत्यके लिये रूढ-सा हो गया।

प्रायेण ताण्डवविधिर्देवस्तुत्याश्रयो भवेत्।

(ना० शा० ४।२६८)

उग्र नृत्यके लिये ताण्डव शब्दका प्रयोग श्रीमद्भागवतमें भी किया गया है—

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो
रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥

(१०।१६।३०)

यमुनाके जलमें कूदकर कालिय नागके फणोंको द्रुतगतिसे अपने पादप्रहारसे कुचलते हुए उसके फणोंपर नर्तनरत भगवान् कृष्णके लिये कहा गया है कि 'उनके इस विचित्र ताण्डवनृत्यसे उस कालिय नागके फणोंका छत्ता आहत हो गया है, शरीर भग्न हो गया है, मुखसे बहुत अधिक रक्त वमन कर रहा है, इस अवस्थामें उस कालिय नागने चराचरके स्वामी पुराणपुरुष भगवान् नारायणका मनसे स्मरण किया और उनकी शरण ली।'

भगवान् शंकरका यह ताण्डव सामान्य नृत्य नहीं है। इसका विशेष अभिप्राय है, विशेष उद्देश्य है। इसलिये आधिदैविक दृष्टिसे भी इसपर विचार करना उचित होगा। शैव-शाक्त विचारधाराके अनुसार भगवान् व्योमकेश (शङ्कर) का यह ताण्डव काल-शक्तिके नृत्यका रूपक है। यह समस्त ब्रह्माण्ड ही उन नटराजकी नृत्यशाला है। व्योमकेशका अर्थ होता है—आकाश जिसके केश हों, उसके चन्द्र, तारा, ग्रह, नक्षत्र आदि आहार्य ही हो सकते हैं, सिरके आभूषण ही हो सकते हैं। तन्त्रका मानना है कि लास्य और ताण्डव प्रकृति और पुरुषके क्रियाशील होनेका प्रतीक है। जिससे संसारका सृजन-पालन-रूप व्यापार चल रहा है। संहारका अर्थ सामान्यतया विनाश समझा जाता है। पर इस संदर्भमें इसका [illegible] और कल्पना होती है। इस संकोच और

प्रसारण कहा जा सकता है। सौन्दर्यलहरीके डिण्डिम-भाष्यमें कहा गया है—

सृष्टिस्थितिसंहाराभ्यामन्तःस्थितपदार्थस्यैव प्रकाशन-तिरोभावे उक्ते किंतु तिरोभावः सूक्ष्मरूपता बहिःप्रकाशन-स्थूलरूपता इति इयानेव भेदः।

सर्जन, पालन और संहारसे अन्तःस्थित पदार्थका प्रकाशन और तिरोभाव ही अभिप्रेत है। तिरोभाव सूक्ष्मरूपता और बाहर प्रकाशन स्थूलरूपता है, दोनोंमें मात्र इतना ही भेद है।'

इससे श्रीमद्भगवद्गीताके **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** की भी पुष्टि हो जाती है। सर्जन और संहार विश्वमें चलनेवाली एक सतत प्रक्रिया है। ताण्डव विनाशका सूचक न होकर नवनिर्माणकी क्रिया है। नाट्यशास्त्रमें कहा गया है—

पादतलाहतिपातितशैलं क्षोभितभूतसमग्रसमुद्रम्।
ताण्डवनृत्तमिदं प्रलयान्ते पातु जगत् सुखदायि हरस्य॥

(५।१२७)

'ताण्डव नृत्त करते समय भगवान् शिवके उग्र वेगके कारण उनके पदतलके संचारसे पर्वत गिर रहे हैं, पञ्चभूतके इस समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न हो गया है, भूतसृष्टि क्षुब्ध हो रही है। प्रलयके अन्तमें होनेवाला शिवका यह सुखद नृत्य संसारकी रक्षा करे।'

आदिनट शिव और लास्येश्वरी भगवती पार्वती जब ताण्डव और लास्यमें प्रवृत्त होते हैं तो सर्जन होता है। जहाँ यह ताण्डव और लास्य बंद हुआ, सृष्टिके कार्यकलाप भी बंद हो जाते हैं। उक्त स्तुतिमें प्रकृतिमें जो विक्षोभ बताया गया है, वह प्रकृतिकी सृष्ट्युन्मुख होनेकी गतिशीलताका द्योतक है। सर्जन सदा आनन्दमय होता है, इसलिये इस ताण्डवको सुखदायी कहा गया है।

अर्धनारीश्वर-स्तोत्रमें कहा गया है—

प्रपञ्चसृष्ट्युन्मुखलास्यकायै समस्तसंहारकताण्डवाय।
जगज्जनन्यै जगदेकपित्रे नमः शिवायै च नमः शिवाय॥

'जो शक्ति पञ्चमहाभूतोंसे सृष्टि करनेके लिये उन्हें अपनी क्रियाशक्ति लास्यके द्वारा चैतन्य प्रदान करती है, वह समस्त सृष्टिकी माता है, उसे नमस्कार है। जो इस सारी सृष्टिको समेटते हुए उसका पुनः-पुनः नवीकरण करते हैं, ताण्डवमें रत भगवान् शंकरको संहारका पिता—पालक कहा गया है, उन्हें नमस्कार है।' नृत्य वास्तवमें महेश्वरकी पञ्चक्रियाओंका द्योतक है—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह-करण—ये पाँचों क्रियाएँ सदैव एक साथ चलती रहती हैं। जिस प्रकार वसन्त, पतझड़, शीत, ग्रीष्म, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जरा-मरण, उत्पत्ति-विनाशका क्रम निरन्तर चल रहा है, उसी प्रकार ताण्डव एक सतत-प्रक्रिया है।

श्रीदुर्गासप्तशतीमें भगवतीके लिये कहा गया है—

कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनि।

समयकी सूक्ष्म इकाई कला और काष्ठाके रूपमें आप ही संसारको परिणाम प्रदान करनेवाली हैं। इसीलिये सौन्दर्यलहरी (४१) में कहा गया है—

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।

यहाँ शक्तिका नाम समया दिया गया है, जो शिवके साथ ताण्डवलास्यमें रत होकर उस विश्वकी परिणमन-क्रियामें सहायक होती है। समयाका अर्थ भी कालशक्ति होता है। परिणामका अर्थ विनाश नहीं है, इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—सूर्यकी उष्मासे जल भापरूपमें परिवर्तित होता है, भाप हलकी होनेके कारण ऊपरको उठती जाती है, शीतल होनेपर वही मेघोंके रूपमें दिखायी देती है, शीत और उष्णाकी मिश्रित क्रियासे वही कुहरेमें बदल जाती है, अधिक शीतल होनेपर हिमका रूप धारण कर लेती है, आर्द्र होनेकी अवस्थामें जलके रूपमें पृथ्वीपर बरस जाती है। नदी-नालोंके द्वारा वर्षाका जल जब बहकर समुद्रमें पहुँचता है, तब फिर वाष्पीकरणकी क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस परिवर्तनके चक्रको ही परिणाम कहा गया है। महाविद्यासूत्रके अनुसार—

परिणमयित्री शक्तिर्न केवलं संहरति सृजत्यपि।

'परिणामप्रदायिनी शक्ति केवल संहार ही नहीं करती, सर्जन भी करती है।' संहारके साथ सर्जन कैसे सम्भव है, इसके लिये कहा गया है—

पूर्वपूर्वावस्था संहार एवोत्तरोत्तरावस्था सर्गो भूतानाम्।

'पूर्वकी अवस्था बदलती जाती है, मिटती जाती है, उसकी उत्तरकालीन अवस्था ही नवीन सृष्टि है। उदाहरणके

लिये मिट्टीमें पड़ा हुआ बीज भूगर्भमें आर्द्र होकर उष्मासे अंकुरित होता है, यह बीजके विनाशकी अवस्था है, अंकुरसे पत्ते निकलते हैं, वही पौधा कालक्रमागत-रूपसे वृक्षका रूप धारण करता है, उसमें कोपलें आती हैं, कलियाँ खिलती हैं, फूल फलका रूप लेता है, जिसमें अनेक बीज छिपे रहते हैं। जो एकसे अनेक होनेका कारण है, वही वृक्ष पत्ररहित होता है, वसन्तमें उसमें पुनः पत्ते आते रहते हैं। इधर बीजके भूमिमें पड़नेसे नवनिर्माणकी क्रिया चलती रहती है। इस प्रकार प्रकृतिके दोनों कार्य सर्जन और संहार देखनेमें विरोधी प्रतीत होनेपर भी साथ-साथ चलते रहते हैं। इसीको अंग्रेजीमें 'ओल्ड यील्ड्स प्लेस टु न्यू' कहा जाता है। इसीलिये महाविद्यासूत्रमें आगे कहा गया है—

एकैव क्रिया द्व्यर्थकरीत्युक्तं भवति।

इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि एक ही क्रियासे दो कार्य होते हैं। क्रिया देखनेमें एक होनेपर भी उससे दोनों ही कार्य होते हैं। यह क्रिया क्या है, इसके लिये कहा गया है—

क्रियैव ताण्डवमुच्यते।

(महाविद्यासूत्र, कालीपटल, सूत्र १५)

'क्रियाको ही ताण्डव कहा जाता है।' ईश्वरकी इस गति-शक्तिका रूप ही ताण्डव है। यही महाकालका नर्तन है। इसीको नवरसमहाताण्डवनट कहा गया है—'**नवीकरणे रस्यते आस्वाद्यते महांश्चासौ ताण्डवनटः।**' वह ताण्डव करके नाचनेवाला जो नवीकरणका रस लेता है। यहाँ महा शब्द भी विशेषार्थका बोधक है। कामकला-विलासकी टीकामें कहा गया है—'**महत्त्वं च देशकालावस्थाद्यभिन्नत्वम्।**' देश, काल और अवस्था-विशेषसे अनवच्छिन्न होना ही महत्त्व है। अतः यह ताण्डव इन्द्रियगोचर-देशपर कालका विक्षेप ही है। इस परिवर्तनमें जो आनन्द है, वही लास्यपरा समयाका शिवके ताण्डवमें—शिव-संकल्पमें योगदान है।

'नवरसमहाताण्डवनटम्'की टीकामें—पदार्थचन्द्रिकामें कहा गया है—

महाताण्डवं ब्रह्माण्डनिर्माणमेव
ब्रह्माण्डनिर्माणस्य शृंगारादिनवरसयुक्तत्वमेव।

ब्रह्माण्डकी रचना ही महाताण्डव है, ब्रह्माण्डकी रचनामें नवरसोंका समावेश है ही।'

इस प्रकार ब्रह्माण्डमें निरन्तर चलनेवाला यह ताण्डव और लास्य ब्रह्माण्डके लघुसंस्करण इस पिण्डाण्डमें भी चल रहा है। उक्त शिखरिणीछन्दमें इन दोनोंका ही संकेत किया गया है।'**तवाधारे मूले**' का अर्थ मूलाधार होता है। कुण्डली-जागरणके क्रममें उक्त वर्णन अवरोहक्रमके अनुसार किया गया है। जिन्हें उन्नेय भूमिकाका क्रम अभीष्ट है, उनमें सर जॉन वुडरफ आदिने इस व्याख्या-क्रममें छत्तीससे लेकर चालीसतकके छन्दोंका क्रम बदल कर व्याख्या की है। वैसे समयमतके अनुसार पिण्डाण्डमें इस ताण्डवका स्थान मनुष्यका मस्तिष्क ही हो सकता है।

भारतीय संस्कृतिके सुप्रसिद्ध व्याख्याकार डॉ० आनन्दकुमार स्वामीने अपने एक निबन्धमें शिवके नृत्यपर इसी प्रकारके विचार प्रकट किये हैं। उनके मतके अनुसार नृत्यसे ही सभी वस्तुओंकी सृष्टिका प्रारम्भ होता है। यह नृत्य संसारके आदिपुरुषके साथ ही प्रकट हुआ, क्योंकि इस आदिनृत्यका दर्शन हम ग्रह-नक्षत्र और तारागणोंकी गतिमें उनके सामूहिक नृत्यमें पाते हैं। यह ईश्वरके क्रियाकलापोंका प्रतिरूप बन गया है। ब्रह्माण्डमें स्पन्दनात्मिका जो भी वस्तु मिलती है, उस शक्तिका आदिस्रोत यही नृत्य है। नृत्यका स्थान विश्वका केन्द्र मनुष्यके हृदयके भीतर है।

विज्ञानके अनुसार भी एक ही न्यूक्लियसपर इलेक्ट्रान, प्रोटोन और न्यूट्रोनके अनवरत अबाधगतिसे भ्रमण करनेसे ही संसारके प्रत्येक जड और चेतनमें परिणमन क्रिया चल रही है, यही शिवका ताण्डव है, नर्तन है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि असंख्य ब्रह्माण्ड ग्रह-नक्षत्रोंसे लेकर गतिशक्तिका यह नृत्य—शंकरका यह ताण्डव मानवके हृदयकी हलचल-तकमें विद्यमान है।

ताण्डव आत्माका वह स्वर है, जिसके गर्जनसे सभी बाह्य स्वर शान्त हो जाते हैं। शिवका ताण्डव जीवनके शाश्वत संगीत और शाश्वत आनन्दका प्रतीक है।

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[विकार आपमें नहीं है]

परमात्माकी प्राप्ति होनेसे पहले विकारोंकी निवृत्ति हो जाय—यह कोई नियम नहीं है। परंतु परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद विकार नष्ट हो ही जाते हैं—**रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २। ५९) 'रसरूपी विकार परमात्माका साक्षात्कार होनेके बाद मिट जाता है।' इसमें एक मार्मिक और बहुत ही लाभकी बात है। आप उसको गहरे उतरकर समझें, इतनी प्रार्थना है।

हमें अनुकूल व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदि मिलें और प्रतिकूल व्यक्ति, पदार्थ, परिस्थिति आदि न मिलें—यही संसार है। अनुकूलता-प्रतिकूलताके सिवाय संसार कुछ नहीं है। उस अनुकूलता-प्रतिकूलताका हमारेपर जो असर पड़ता है, उसका नाम ही विकार है। इन विकारोंसे हमें छूटना है; क्योंकि जबतक विकार होते रहेंगे, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी।

इस बातकी खोज करो कि विकार कहाँ होते हैं? विकार मन और बुद्धिमें होते हैं, अन्तःकरणमें होते हैं। अतः विकार करणमें होते हैं, कर्तामें नहीं होते—यह खास समझनेकी बात है। आपको अनुकूलता मिली तो आप सुखी हो गये, प्रतिकूलता मिली तो आप दुःखी हो गये। सुखी और दुःखी होना—ये दो अवस्थाएँ हुईं। इन दोनों अवस्थाओंमें आप दो हुए या एक ही रहे? इस बातपर विचार करें। सुखकी अवस्थामें आप वे ही रहे और दुःखकी अवस्थामें भी आप वे ही रहे—यह बात सच्ची है न? वास्तवमें ये अवस्थाएँ मन-बुद्धिमें होती हैं, पर इनको आप अपनेमें मान लेते हो—यह गलती होती है। आप सुख-दुःखकी अवस्थाओंमें अपनेको सुखी-दुःखी मान लेते हो। सुख-दुःखका असर अन्तःकरणपर पड़ जाता है तो आप सुखी-दुःखी हो जाते हो। विकारोंको आप अपनेमें मान लेते हो। वास्तवमें विकार आपमें हुए ही नहीं, विकार तो अन्तःकरणमें हुए।

सुख और दुःख—इन दोनोंको आप जानते हो। दोनोंको वही जान सकता है, जो दोनोंसे अलग हो। जो दोनोंमें तदाकार हो जायगा, वह सदा सुखी ही रहेगा अथवा सदा दुःखी ही रहेगा। जो सुखमें भी रहता है और दुःखमें भी रहता है, वही सुख और दुःख—इन दोनोंको जान सकता है। सुख अलग है और दुःख अलग है। इनसे अलग रहनेवाला इन दोनोंको जानता है। अगर वह इनके साथ मिला हुआ हो तो सुख और दुःख—दोनोंको नहीं जानेगा, प्रत्युत एकको ही जानेगा, जिसके साथ वह रहा है।

दूसरी बात, सुखी होते समय भी आप वे ही हो और दुःखी होते समय भी आप वे ही हो, तभी तो आपको दोनोंका अलग-अलग अनुभव होता है। सुख और दुःख—दोनोंका अलग-अलग अनुभव करनेवाला सुख-दुःखसे अलग है। सुख-दुःखसे अलगका अनुभव कब होगा? जब आप प्रकृतिमें स्थित न होकर 'स्व' में स्थित हो जाओगे—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४)। प्रकृति विकारी है। उसमें आप स्थित होंगे तो विकार होगा ही। परंतु वह विकार आपमें (स्वयंमें) कभी नहीं होगा। अज्ञान-अवस्थामें भी आपमें विकार नहीं हुआ और ज्ञान-अवस्थामें भी आपमें विकार नहीं हुआ। आपके स्वरूपमें कभी विकार हुआ ही नहीं, हो सकता ही नहीं। यदि आपमें विकार होते तो वे कभी मिटते ही नहीं। विकार प्रकृतिमें होते हैं। प्रकृतिसे अपनेको अलग अनुभव करना ही तत्त्वज्ञानको, जीवन्मुक्तिको प्राप्त करना है।

वास्तवमें आप प्रकृतिसे अलग हैं। इस बातको जाननेके लिये आप कृपा करें, थोड़ा ध्यान दें। आप आने-जानेवाले नहीं हैं। भगवान्‌ने कहा है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २। १४)

'हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंके जो विषय हैं, वे अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! उनको तुम सहन करो।'

अनुकूलता अच्छी लगती है और प्रतिकूलता बुरी लगती

है। ये दोनों ही आने-जानेवाली और अनित्य हैं। इनको आप सह लो। सुख आये, उसको भी सह लो और दुःख आये, उसको भी सह लो। सुखमें सुखी हो गये और दुःखमें दुःखी हो गये तो यह आपसे सहा नहीं गया। यह आपसे गलती हुई। आप आने-जानेवाले और अनित्य नहीं हो। आप नित्य हो और विकार अनित्य हैं। जब आप अनित्यके साथ मिलते हो, तब आप अपनेमें विकार मानते हो। आने-जानेवालेके साथ रहनेवाला मिल जाता है—यहीं गलती होती है। यदि आप 'स्व' में स्थित हो जायँगे तो आपको अनुकूलता और प्रतिकूलताका ज्ञान तो होगा, पर उसका आपपर असर नहीं पड़ेगा। इसीका नाम मुक्ति है। विकारोंसे छूटना ही मुक्ति है। मुक्ति नित्य है, इसलिये मुक्तिके बाद फिर बन्धन नहीं होता—**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव'** (गीता ४।३५) फिर मोह नहीं होता। कारण कि वास्तवमें आपके भीतर मोह नहीं है। केवल अपने स्वरूपका अनुभव करना है। इस विषयमें आपसे बात करनेकी जितनी मेरी लगन है,उतनी आपकी लगन नहीं है।

सुख और दुःख तो आने-जानेवाले हैं और वे पहुँचते हैं मन-बुद्धितक, ज्यादा-से-ज्यादा 'अहम्' तक। 'अहम्' एकदेशीय है; क्योंकि वह प्रकाशित होता है। जैसे यह चीज दीखती है, ऐसे ही 'अहम्' दीखता है। 'अहम्' आँखोंसे नहीं दीखता, पर भीतरमें 'अहम्' अर्थात् 'मैं' का अनुभव होता है। सब विकार इस 'मैं' तक ही पहुँचते हैं। जिस प्रकाशमें यह 'मैं' दीखता है, उस प्रकाशमें कोई विकार नहीं है। जिसमें विकार होते हैं, उसको भी आप जानते हैं और विकारोंको भी आप जानते हैं। उस जाननेपनमें विकार हैं क्या ? आप 'अहम्' के साथ मत मिलो। 'अहम्'के साथ मिलना प्रकृतिमें स्थित होना है। यह 'अपरा' प्रकृति है और आप जीवरूपा 'परा' प्रकृति हो। परा प्रकृतिने जगत्‌को धारण कर लिया—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। जगत्‌को धारण करनेसे यह विकारोंमें फँस गया। 'शरीर मैं हूँ, शरीर मेरा है; मन मैं हूँ, मन मेरा है; बुद्धि मैं हूँ, बुद्धि मेरी है; अहम् मैं हूँ, अहम् मेरा है'—यह जो मानना है, यही जगत्‌को धारण करना है।

जीव अंश तो भगवान्‌का है, पर वह भगवान्‌में स्थित न होकर प्रकृतिमें स्थित हो जाता है(गीता १५।७)। अपरा प्रकृति बड़ी सपूत है, वह बेचारी अपनेमें ही स्थित रहती है, आपमें स्थित होती ही नहीं। आप स्वतन्त्र हो, चेतन हो। चेतन होनेसे आप अपने स्वरूपमें भी रहते हो और प्रकृतिमें भी स्थित हो जाते हो। भगवान्‌ने कितना सुन्दर पद दिया है—**'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि।'** ये शरीर इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिमें ही स्थित रहते हैं, कभी प्रकृतिको छोड़कर आपमें आते ही नहीं। वास्तवमें आप प्रकृतिमें स्थित नहीं हो, प्रत्युत भगवान्‌के अंश होनेसे भगवान्‌में स्थित हो। 'अहम्' तो प्रकृति है। प्रकृतिको धारण करो अथवा न करो—इसमें आप स्वतन्त्र हो। इसमें आप पराधीन नहीं हो। जिस ज्ञानके अन्तर्गत 'अहम्' दीखता है, उस ज्ञानमें 'अहम्' नहीं है। आप उस ज्ञानमें स्थित रहो। उसमें आपकी स्थिति स्वतः है।

अपना जो स्वरूप है, उस प्रकाशमें 'अहम्' दीखता है। अगर वह नहीं दीखता तो 'अहम्' है—इसमें क्या गवाह है ? आप खुद अपरा प्रकृतिको पकड़ते हो। आप जिसको पकड़ते हो, अधिकार देते हो, वही आपपर अधिकार करता है। आप अधिकार नहीं दो तो उसमें आपपर अधिकार जमानेकी ताकत नहीं है। आने-जानेवाला आपपर अधिकार कैसे जमायेगा ? उसको आप 'मैं' और 'मेरा' मान लेते हो, तब आफत आती है।

सुख-दुःख दीखते हैं। विकार दीखते हैं। जैसे सब वस्तुएँ एक प्रकाशमें दीखती हैं, ऐसे ही 'अहम्' एक प्रकाशमें दीखता है। प्रकाश न हो तो 'अहम्' दीखे ही नहीं। 'अहम्' को आप पकड़ते हो तो किसी गवाहसे नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्रतासे पकड़ते हो। कोई आपको मदद करके पकड़नेवाला है ही नहीं। 'अहम्' को आपने माना है तो आप 'अहम्'को न मानें। संतोंने कहा है—***'देखो निरपख होय तमाशा'*** निरपेक्ष होकर तमाशा देखो। जो प्रकाश अपना स्वरूप है, उसमें 'अहम्' को धारण मत करो।

गाढ़ नींदमें 'अहम्' का भान नहीं होता। जागनेपर कहते हो कि 'नींदमें मेरेको कुछ पता नहीं था', अतः वहाँ 'अहम्' नहीं था, पर आप तो थे ही । गाढ़ नींदमें 'मैं अभी सोया हुआ हूँ'—ऐसा आपको अनुभव नहीं होता। जागनेपर ही आप कहते हो कि 'मैं ऐसा सोया, मेरेको कुछ पता नहीं था।' 'कुछ

पता नहीं था'—यह स्मृति है। स्मृति अनुभवजन्य होती है—'**अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः** (योगदर्शन १।११)। आपको स्मृति आती है कि मैं गहरी नींदमें सोया। गहरी नींदमें 'अहम्' (मैं) लीन था, पर आप लीन नहीं हुए थे। अगर आप लीन हो जाते तो 'मेरेको गाढ़ नींद आयी, मेरेको कुछ पता नहीं था'—यह नहीं कह सकते थे।

ममता तू न गयी मेरे मन तें

(मोह, कारण और निवारण)

(पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

[गताङ्क पृ० सं० ७४८ से आगे]

(२)

यह मोह आखिर है क्या?

ममता है कौन चीज ?

सच पूछिये तो यह कुछ नहीं है।

केवल भ्रम है, अज्ञान है।

बंद गोभी है। एक-एक पत्ता उधेड़ते जाइये, अन्तमें कुछ न हाथ लगेगा। जगत्के प्राणी-पदार्थोंमें हमारी जो आसक्ति है, जो ममत्व है, जो राग है, अनुकूलके प्रति झुकाव और प्रतिकूलके प्रति जो विराग है, उसीका नाम तो मोह है। उसीको तो 'ममता' कहते हैं।

× × ×

यह मेरा है, यह मेरा बना रहे, इससे मेरी भेंट हो जाय, यह मुझे मिल जाय, यह खूब फले-फूले, इसका बाल न बाँका हो—इस तरहके जो असंख्य भाव रात-दिन हमारे मनमें उठते रहते हैं, जिन्हें लेकर हम आठ पहर चौंसठ घड़ी परेशान रहते हैं, जिनके लिये हम जमीन-आसमानके कुलावे एकमें मिलाते रहते हैं, जिनकी चिन्तामें हम डूबे रहते हैं, उन्हींको तो 'मोह' कहा जाता है।

× × ×

मोहका यह जाल कितना व्यापक है, सोचनेपर आश्चर्य होता है। एक-दो चीजोंका मोह हो सो नहीं। मोह असंख्य वस्तुओंका होता है। कहाँतक कोई गिनाये!

× × ×

शरीरका मोह होता है।

विषयोंका मोह होता है।

परिवारका मोह होता है।

धन-सम्पत्तिका मोह होता है।

परिग्रहका मोह होता है।

कुर्सीका मोह होता है।

मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठाका मोह होता है।

नामका मोह होता है।

पढ़ने-लिखनेका, डिग्रीका मोह होता है।

ज्ञानका मोह होता है।

स्थानका मोह होता है।

जाति, वर्ण, कुल-परम्पराका मोह होता है।

कल्पित धारणाओंका मोह होता है।

सेवाका मोह होता है।

त्यागका मोह होता है।

संस्थाका मोह होता है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका मोह होता है।

जीवन, जगत्का मोह होता है।

यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥

× × ×

शरीरका मोह किससे छिपा है?

विज्ञान कहता है—

२२२ हड्डियाँ,

धमनियोंमें ७ पौंड रक्त,

३० लाख पसीनेकी ग्रन्थियाँ,

मस्तिष्क और रीढ़में १४० अरब शिराएँ,

सिरपर ९०हजारसे १ लाख ४० हजारतक बाल!

यह शरीर!

× ×

दार्शनिक कहते हैं—

क्या शरीर है शुष्क धूलका थोड़ा-सा छवि-जाल।
उस छविमें ही छिपा हुआ है, वह भीषण कंकाल॥

क्या रखा है इस शरीरमें ?

हाड़-मांस, रक्त-मज्जा, थूक-खखार, मल-मूत्रसे भरा गंदा बर्तन !

× × ×

साधु-संत कहते हैं—

जारे देह भस्म ह्वै जाई, गाड़े माटी खाई।
काँचे कुंभ उदक ज्यों भरिया, तनकी यही बड़ाई॥

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

साधो यह तन मिथ्या जानो।
संग तिहारे कछू न चालै, ताहि कहा लपटानो॥

× × ×

यह जानते हुए भी कि यह शरीर कुछ नहीं है, पानीभरी खाल है, हमने इसे अपना जीवन-सर्वस्व बना रखा है।

जमीनपर पड़ी कुछ मिट्टी इस शरीरपर लेप लेनेके लिये, इसका वजन बढ़ानेके लिये हम रात-दिन बेचैन रहते हैं।

जरा भी, किसी भी अङ्गमें कोई शिकायत जान पड़ी कि हम बेतहाशा दौड़ते हैं—हकीम, डॉक्टरोंके पास, मानो वे इस शरीरको जरा और मृत्युसे रोग और बीमारीसे बचा ही लेंगे।

साँस निकलने-निकलनेतक हम आशावान् बने रहते हैं—शायद कोई डाक्टर इस शरीरको बचा ले।

कफ पित वात कंठपर बैठे सुतहिं बुलावत कर तें।
ममता तू न गयी मेरे मन तें॥

× × ×

इस शरीरके मोहमें पड़कर हम क्या नहीं करते ?

इसकी रक्षाके लिये, इसे स्वस्थ बनाये रखनेके लिये, इसे चिकना-चुपड़ा और सुन्दर बनाये रखनेके लिये हम बेचैन रहते हैं।

इस शरीरकी पूजा, इसकी आराधना हमारे जीवनका मूलमन्त्र बन बैठा है।

इसके लिये हमें रोटी-दाल, घी-दूध, मक्खन-मलाई, 'विटामिन' और 'कैलोरी' नहीं, तर माल भी चाहिये, माल-मलीदा भी चाहिये, च्यवनप्राश और शक्तिवर्धक 'टानिक' भी चाहिये।

इस शरीरको कहीं सर्दी न लग जाय, निमोनिया न हो जाय, ब्रंकाइटिस न हो जाय, इसका हमें पूरा ख्याल रहता है। इसके लिये हम मनों ऊनी कपड़े रखते हैं। गद्दे-रजाइयाँ रखते हैं। लोई-कम्बल रखते हैं। तूश-पश्मीना रखते हैं।

× × ×

गर्मियोंमें इस शरीरको धूप न लग जाय, लू न लग जाय—इसका हम भरपूर ध्यान रखते हैं। गर्मी इस शरीरको कहीं क्षीण न कर दे, इसका हम पूरा एहतियात रखते हैं।

बिजलीके पंखों और खसकी टट्टियों, 'कूलर' और 'एयरकंडीशंड'—वायुनियन्त्रित कमरोंकी हम पूरी व्यवस्था करते हैं। बरफका शर्बत, लस्सी और ठंडाई आदि तो मामूली चीजें हैं। इनकी माँग तो रिक्शा खींचनेवाले और झल्ली उठानेवालेतक करते हैं।

× × ×

वर्षासे बचावके लिये हम बढ़िया-से-बढ़िया मकान बनवाते हैं। पानीसे भीगकर कहीं हम बीमार न पड़ जायँ— इसकी चिन्ता किसे नहीं रहती ?

× × ×

जाड़ा हो, गर्मी हो, बरसात हो—कोई भी ऋतु हो, शरीरकी रक्षाके लिये हम पूरी सावधानी रखते हैं। उसे स्वस्थ रखनेके लिये, हृष्ट-पुष्ट रखनेके लिये, सुन्दर और आकर्षक बनाये रखनेके लिये हम पानीकी तरह पैसा बहाते हैं। यहींतक नहीं, मौका पड़ जाय तो इस शरीरके मोहके आगे हम स्त्री-पुत्र, बाल-बच्चोंतकका बलिदान कर डालते हैं। रुपया-पैसा तो हाथका मैल ही ठहरा।

× × ×

बात है उन दिनोंकी, जब जापानी सिंगापुरतक आ गये थे।

जापानियोंने एक प्रसिद्ध बैंकपर अपना कब्जा कर लिया।

उस बैंकमें कितने ही भारतीय क्लर्क भी थे। एक क्लर्कने आपबीती सुनाते हुए कहा कि जापानियोंने बैंकमें आते ही सबसे पहले सोने-चाँदीकी सिलोंपर अधिकार जमाया। फिर हमसे बोले—'तुममेंसे जो लोग नौकरी करना चाहें, कर सकते हैं। जाना चाहें उन्हें अपनी सीमातक हम पहुँचा देंगे। कौन रहेगा, कौन जायगा ?'

जो लोग भारत लौटनेको तैयार हुए उनमें उक्त सज्जन भी थे। जापानी उन्हें नीचे ले गये खजानेमें—'उठा लो ये कागजके टुकड़े जितने चाहो।' कागजी सिक्केका—नोटोंका मूल्य ही क्या था उनकी दृष्टिमें !

इन्हें उठाते-उठाते डर लग रहा था कि कहीं बंदूकका कुंदा न जमा दें कि क्यों इतना ज्यादा पैसा समेट रहा है।

पूछा—'तुम्हारा परिवार भी है क्या ?'

परिवार था तो जरूर, पर कहें कैसे ? यहाँ तो अपना शरीर बचानेकी धुन थी। बच्चे मरें या जियें।

आखिर ठीक अपने घरके सामनेसे होकर निकल आये। स्त्री-बच्चोंको वहीं छोड़ दिया। जापानियोंने सबको सुरक्षित रूपसे अपनी सीमातक पहुँचा दिया।

× × ×

बादमें ये महाशय अनेक कष्ट भुगतकर वर्मासे होकर भारत पहुँचे।

× × ×

समयके अनुकूल जवानी तेजीसे खिसक रही है, पर हम उसे बाँध रखनेको बेचैन हैं। बालोंमें सफेदी जहाँ-तहाँ झाँकी मारती है, हम तुरंत खिजाब तलाश करते हैं, आँवलेका तेल ले आते हैं और ऐसे विज्ञापनोंपर जी-खोलकर पैसा खर्च करते हैं जो इस बातकी गारंटीका दम्भ भरते हैं कि सफेद बाल जड़से काला हो जायगा। किसीके मुँहसे हम सुनना भी पसंद नहीं करते कि हम बूढ़े होते चल रहे हैं। कोई हमें 'बुढ़ऊ दादा' कह भर दे, फिर देखिये हमारा ताव। कुछ न हो तो हम केशवका यह दोहा रटने लगते हैं—

केसव केसन अस करी जस अरिहूँ न कराँहि।
चंदबदनि मृगलोचनी, 'बाबा' कहि कहि जाँहि ॥

शरीरका कैसा थोथा मोह।

× × ×

उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, हँसते-खेलते हमें एक ही चिन्ता सताती है—हमारा यह शरीर चंगा रहे, हट्टा-कट्टा और स्वस्थ रहे, आकर्षक और चिकना-चुपड़ा रहे।

× × ×

शरीरके इस मोहको लेकर ही तो आज सारे संसारका अधिकांश व्यापार चलता है।

खाने-पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, मौज करनेके जितने साधन हैं, वे हैं तो सब इसीके लिये न।

जिधर दृष्टि डालिये, हमारी देहासक्तिको संतुष्ट करनेकी ही तैयारी दीख पड़ेगी।

× × ×

देहका मोह हममें न हो तो—

भूखों मर जायँ ये हलवाई जो चमचम और गुलाबजामुन, रसगुल्ला और मोहनभोगके बलपर अपनी तिजोरी भरते हैं।

दिवाला निकल जाय उन कम्पनियोंका जो रात-दिन पफ और पाउडर, क्रीम और पोमेड, शृङ्गार और फैशनके नामपर अपना बैंक बैलेंस बढ़ाती रहती हैं।

तबाह हो जायँ ये डॉक्टर और वैद्य, हकीम तथा जर्राह, जिनकी फीसका दारोमदार इस शरीरकी ही व्याधियोंपर है।

बंद पड़ी रहें पैंसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसिनकी शीशियाँ, च्यवनप्राश और मकरध्वजके डिब्बे, यदि हम शरीरके मोहके पीछे पागल न हों।

× × ×

विषयभोगोंके मोहकी तो कहानी ही निराली है।

यह खा लूँ, यह पी लूँ, यह चख लूँ, यह देख लूँ, यह पढ़ लूँ, यह सूँघ लूँ, यह छू लूँ, यह सुन लूँ, इसका उपभोग कर लूँ, इसे प्राप्त कर लूँ—इसी तरहके प्रोग्राम हम रात-दिन बनाते रहते हैं। रात-दिन

इन्द्रियोंकी तरह-तरहकी फर्माइशें पूरी करनेमें जुटे रहते हैं। मजा यह कि वे कभी पूरी हो नहीं पातीं। हों भी तो कैसे ?

बुझे न काम अगिन 'तुलसी' कहुँ बिषय भोग बहु घी तें॥

× × ×

और परिवारका मोह ?

वह कौन किसीसे कम है ?

यह मेरा बाप है, यह मेरी माँ; यह मेरा चाचा है, यह मेरी चाची; यह मेरा दादा है, यह मेरी दादी; यह मेरा मामा है, यह मेरी मामी; यह मेरा फूफा है, यह मेरी फूफी; यह मेरा भाई है, यह मेरी भावज; यह मेरी बीबी है, यह मेरा शौहर; यह मेरा बहनोई है, यह मेरा साला; यह मेरा ससुर है, यह मेरी सास; यह मेरी बेटी है, यह मेरा दामाद; यह मेरा बेटा है, यह मेरी पतोहू; यह मेरा भतीजा है, यह मेरा भानजा; यह मेरा सगा है, यह मेरा सम्बन्धी; यह मेरा कुटुम्बी है, यह मेरा रिश्तेदार।

कोई पार है इन सगे-सम्बन्धियोंकी सूचीका !

एक-एकके प्रति अपार मोह।

× × ×

अर्जुन खड़ा है कुरुक्षेत्रके मैदानमें।

सगे-सम्बन्धियोंकी पलटन उसकी दोनों ओर है।

श्रीकृष्णसे पूछता है—'क्या करूँ मैं श्रीकृष्ण ! लड़ूँ इनसे ? इन्हें देखकर तो—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।

'मेरा अङ्ग-अङ्ग शिथिल हो रहा है, मुँह सूख रहा है, शरीर काँप रहा है, रोमाञ्च हो रहा है, गाण्डीव हाथसे खिसका जा रहा है, त्वचा जल रही है, मेरा मन भ्रमित हो रहा है, मुझे चक्कर आ रहा है, मुझसे खड़ा नहीं हुआ जा रहा है।'

इन स्वजनोंको मैं मारूँ ?

जिनके लिये राज्य प्राप्त करनेको मैं लड़ने आया हूँ, वे ही यहाँ कटनेको तैयार खड़े हैं। इन्हें मारकर, इन्हींकी लाशोंपर मैं अपना प्रासाद खड़ा करूँ ? छिः-छिः, न होगा मुझसे ऐसा।

और फिर यह भी तो है कि ये **'लोभोपहतचेतसः'**—इनकी आँखोंपर लोभकी पट्टी बँधी है। जिससे न इन्हें कुलक्षयका दोष दिखायी पड़ता है, न मित्रद्रोहका पाप।

पर हम क्यों इन्हींकी तरह मूर्ख बन जायँ ? हम क्यों यह बात भूल जायँ कि कुलक्षयसे अधर्म फैलेगा, स्वैराचार बढ़ेगा, वर्णसंकरता आयेगी, कुलधर्म नष्ट होंगे—ऐसा भयंकर पाप हम क्यों करें ?

माना, इनकी अक्लपर पत्थर पड़ गये हैं, ये आततायी हैं, पर इन्हें मारकर हमें मिलेगा क्या ? राज्यसुखके लिये हम भी इनकी तरह अंधे क्यों बनें ? ऐसे रक्तरञ्जित राज्यको लेकर ही हम क्या करेंगे ? जाने दो श्रीकृष्ण, न चाहिये हमें राज्य, न चाहिये हमें सुख। भीष्म-द्रोण-जैसे पूज्य गुरुजनोंको मारनेसे तो कहीं अच्छा है कि हम भीख माँगकर अपना पेट भर लें।

रहने दो श्रीकृष्ण ! नहीं लड़ूँगा मैं !

× × ×

प्रबल प्रतापी वीर अर्जुनने डाल दिये अपने हथियार, पकड़ लिये श्रीकृष्णके चरण और रोकर कहा—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

× × ×

इस तरह जब किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे मार्ग दिखानेकी प्रार्थना की, तब श्रीकृष्णने सारी गीता ही कह डाली। उसे सुनकर अर्जुन बोला—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥

'अच्युत ! तुम्हारी कृपासे अब मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरे संशय मिट गये। अब मैं तैयार हूँ तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिये।'

× × ×

अर्जुनकी तरह हमें भी मोह होता है, रोज होता है, कदम-कदमपर होता है, हृदयरूपी कुरुक्षेत्रमें हरदम 'यह मेरा है यह तेरा है' ऐसा द्वन्द्व चलता रहता है,

पग-पगपर हम बहक जाते हैं, पर कौन है जो हमारी मोहकी पट्टीको खोलकर श्रीकृष्णकी तरह पूछे—

कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।

'क्यों धनंजय! अज्ञानसे पैदा हुआ तेरा मोह मिटा क्या?'

पर अर्जुनकी तरह हम श्रीकृष्णको अपने घोड़ोंकी लगाम सौंपते कहाँ हैं? श्रीकृष्ण तो हम सबके हृदयमें विराजमान हैं, हम उनसे मोह-निरसनकी प्रार्थना करें भी तो?

कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

सच तो यह है कि मोहके पाशमें हमने अपने-आपको इतना जकड़ रखा है कि बार-बार ठोकर खाकर भी हम चेतनेका नाम नहीं लेते!

× × ×

कहते हैं कि एक बूढ़ा अपने दरवाजेपर पड़ा-पड़ा अपनी किस्मतको रो रहा था कि बेटा बड़ा नालायक है जो जब देखो तब लात-घूँसोंसे उसकी पूजा करता रहता है!

उधरसे होकर एक साधु निकले।

बूढ़ेको रोते देख लगे समझाने—'छोड़ो बाबा, इस मोहजालको। कौन किसका बाप, कौन किसका बेटा! चलो मेरे साथ भगवान्‌का भजन करके जीवन सफल करो।'

बूढ़ा बिगड़ा—'चल, चल! बड़ा आया है ज्ञान बघारने। क्या हुआ बेटा मारता है! मेरा है, तब न मारता है! तुझे किसने बुलाया था पंचायत करने?

'माफ करो बाबा!'—कहकर साधु चल दिये।

हम इस बूढ़ेसे कम थोड़े ही हैं।

× × ×

(क्रमशः)

परमानन्दमूर्ति श्रीराम

(पं० श्रीमिथिलाप्रसादजी त्रिपाठी, साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०)

संस्कृत-साहित्यमें रामायण-ग्रन्थोंकी सुदीर्घ परम्परा है। हिन्दी-साहित्यमें भी रामचरितको लेकर विपुल रचनाएँ प्राप्त होती हैं। हिन्दी-साहित्यकी रामकथामें तुलसीका वही स्थान है, जो संस्कृत-साहित्यमें आदिकवि महर्षि वाल्मीकिका है। 'राम'के विविध रूपोंका चित्रण कवियोंने अपने-अपने दृष्टि-कोणसे किया है। तुलसीने रामकथाका प्रणयन 'रामचरित-मानस' नामसे किया है। जिनके मानसमें रामचरित भर जाता है, उनके लिये यह श्रवणाभिराम बन जाता है।

राम चरित मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥

मूलतः यह कृति 'विद्यागुरु' भगवान् शंकरकी देन है—

राम चरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥

इस मानसका तात्पर्य-बोध 'मानस-चक्षु'से ही सम्भव होगा—

अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कबिता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥

यह मानस-चक्षु सत्सङ्गसे ही खुलता है। कवि-बुद्धि स्नान करके जब निर्मल हो जाती है, तब हृदयमें आनन्द भरकर प्रेम-प्रमोदका प्रवाह उमड़ने लगता है और रामके निर्मल यशरूपी जलसे भरी हुई सुन्दर नदीकी भाँति तुलसीकी कविता चल पड़ती है।

इस मानसका सर्जक तत्त्व ही 'आनन्द-उछाह' है। मानस-जल तो राम-यश है। मानसमें 'रामानन्द' है और यह परमानन्दसे परिव्याप्त है। तुलसीके राम परमानन्दकारक हैं। जिसकी दृष्टिमें ये भगवान् प्रतीत नहीं होते, उसके लिये भी 'आनन्द'-तत्त्वसे मोहक तो रहते ही हैं। इन्हें देखकर खर-दूषण कहते हैं—

जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

इसी प्रकार *'देखि रामु सब सभा जुड़ानी'* आदि प्रसंग भी ध्यातव्य है। तुलसीने रामका परमानन्दस्वरूप बहुत्र उपस्थित किया है। रामायण-प्राकट्यका प्रसंग सती-मोहसे प्रारम्भ होता है। शिवकी बातोंपर पूर्ण विश्वास नहीं होनेसे रामके ज्ञानकी परीक्षाके लिये सतीने सीताका रूप धारण किया, अपने आराध्यदेव श्रीरामकी पत्नीका रूप धारण करनेके

कारण मातृरूपमें मानते हुए उन्होंने सतीसे शारीरिक सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया और कहा—

जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति पथु होइ अनीती॥

× × ×

एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं॥

'योगाग्नि' में सतीने आत्मदाह किया, परंतु वर माँगा—***'जनम जनम सिव पद अनुरागा'।*** पुनर्जन्म हुआ और ***'नाम उमा अंबिका भवानी'*** पड़ गया। 'शिव'का संयोग तो प्राप्त हुआ परंतु 'अपर्णा' बननेपर। 'शिवा' तो बन गयीं, परंतु 'सती' (पूर्वजन्म) की शङ्का यथावत् थी। घोर तपके पश्चात् 'शिवा' बनीं। उमाके प्रश्नमें जिज्ञासाकी ऊर्जस्विता, शिष्यकी निश्चलता और उनका आर्तभाव व्याप्त था, भोलेनाथकी प्रसन्नताके लिये इतना ही पर्याप्त था—

प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥

प्रश्नकी उत्तरभूत विषयवस्तुका स्मरण हुआ और प्रेमा-भक्तिके लक्षणभूत प्रेम, पुलक (रोमाञ्च) और अश्रुजल आदि प्रकट होने लगे—

हर हियँ रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥

प्रेमाभक्तिका यही लक्षण नवयोगेश्वरोंमेंसे प्रथमाग्रणी योगेश्वर कविने श्रीमद्भागवत (११। २। ४०)में इस प्रकार बताया है—

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति
गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

'जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत—नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-कीर्तनसे अनुरागका, प्रेमका अङ्कुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोगोंकी मान्यताओं, धारणाओंसे परे हो जाता है। दम्भसे नहीं, स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है तो कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है। कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमको अपने नेत्रोंके सामने अनुभव करता है, तब उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है।'

रामचरितका स्मरण होते ही शिवको रामजीका ध्यान होने लगता है। शिव-हृदयमें रामके रमते ही परमानन्दका प्राकट्य हो जाता है—

श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥

और अब रघुपतिका चरित मानससे प्रवाहित होने लगा।

मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥

परमानन्दमूर्ति श्रीरामके बालरूपकी महिमा स्वयं शिवने ही इस प्रकार निरूपित की है—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जानें जगु जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥
बंदउँ बाल रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥
करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥

प्रतापी रावणके नामसे देवलोक काँप जाता था, उसे आते देखकर भगदड़ मच जाती थी—ऐसी स्थितिमें देवगण सुमेरुकी गुफामें छिप गये। पापके भारसे व्यथित पृथ्वीरूप-धारिणी गौके देवताओंके पास जानेपर उसे साथ लेकर देवता ब्रह्माजीसे मिले। ब्रह्माजीने भगवान् नारायणको ही शरण्य बतलाया। देवता उन्हें ढूँढ़नेके लिये वैकुण्ठ या क्षीरसमुद्र जानेकी बात सोचने लगे। इसपर भगवान् शंकरने कहा कि भगवान् विष्णु तो सर्वव्याप्तिलक्षणात्मक ही हैं। वे सभी देश, काल और दिशाओंमें व्याप्त हैं। प्रेमसे प्रार्थना करनेपर वे यहाँ भी प्रकट हो जायँगे। फिर देवताओं, ऋषि-मुनियोंकी करुण प्रार्थना—

जय जय अबिनासी सब घट बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंदा॥

—पर भगवान्‌ने आकाशवाणीद्वारा आश्वस्त किया और सूर्यवंशमें महाराज दशरथके पुत्ररूपमें अवतीर्ण होनेकी भावी सूचना दी—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेषा॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥

×

नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ॥
हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥

महाराज दशरथको सभी आनन्द स्वाभाविक रूपसे प्राप्त थे। भगवान्‌के पुत्र-रूपमें प्राप्त हो जानेपर सर्वातिशायी ब्रह्मानन्द भी उन्हें प्राप्त हुआ—

दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥

प्रभुसे महाराज दशरथको 'वात्सल्यरति' मिली थी, अस्तु, यह भक्ति-रस-परिपाक 'ब्रह्मानन्द' ही था।

'सुत विषइक तव पद रति होऊ'—द्वारा वात्सल्य-रसमयी भक्तिका निर्देश है और **'रसो वै सः'** से इसका ब्रह्ममयत्व स्पष्ट है। ब्रह्मानन्दमें लीन होते ही दशरथजीके मनमें ***'परम प्रेम'*** भर गया, शरीरमें पुलक (रोमाञ्च) हो उठा—

परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा॥

वे सोचने लगे कि जिसका नाम ही श्रवणमात्रसे परम मङ्गलका विस्तार कर देता है, साक्षात् वे प्रभु ही मेरे यहाँ आविर्भूत हो गये हैं—

जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरें गृह आवा प्रभु सोई॥

—यह जानकर परमानन्दसे परिपूर्ण होकर राजाने बाजे-वालोंको बाजा बजानेके लिये कहा—

परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥

अवधपुरी सज उठी, जीवंत हो गयी, घर-घर बधाईके गीत होने लगे। आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी और सभी देवता तथा मनुष्य आदि परमानन्दमें निमग्न हो गये—

सुमनबृष्टि अकास तें होई। ब्रह्मानंद मगन सब लोई॥

राजा दशरथके प्राङ्गण, अयोध्याकी गलियाँ, सरयूका किनारा, लताओंके कुञ्ज सौन्दर्य-सार रघुनन्दनके रमण-स्थल बन गये। राघवेन्द्रका यह लावण्य अद्वितीय, अतुलनीय किंवा अनुपमेय है।

तुलसी तेहि औसर लावनिता दस चारि नौ तीन इकीस सबै।
मति भारति पंगु भई जो निहारि बिचारि फिरी उपमा न पबै॥

भगवान्‌के किशोरावस्थाकी सुन्दरताकी उपमाके अनुसंधानमें शारदा चौदहों भुवन, नवों खण्ड, तीनों लोक और इक्कीसों ब्रह्माण्डोंमें भ्रमण कर आयीं, किंतु उनकी बुद्धि पंगु अर्थात् हतप्रभ हो गयी और उनको उपमा कहीं भी नहीं प्राप्त हुई।

जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई॥

यह शोभा देखनेके लिये कल्याणमूर्ति शिवने कैलास छोड़कर काकभुशुण्डिको साथ लेकर अवधमें प्रवेश किया। प्रेम-रसमें सराबोर वे दोनों अवधकी गलियोंमें घूमते रहे और परमानन्दमें निमग्न होते रहे—

परमानंद प्रेमसुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥

इसी परमानन्दके विग्रहका नामकरण कुलपति वसिष्ठको करना था। उन्होंने विचार किया और कहने लगे—इनके नाम अनेक हैं, सभी अनुपम हैं, परंतु आनन्दका समुद्र, सुखका भण्डार, सुखधाम, जगको विश्राम देनेवाला नाम 'राम' ही है—

इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा॥
जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

एक ही तत्त्वके चार रूप राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नामसे महाराज दशरथके यहाँ बालक बने हैं, परंतु सुखसागर राम तो कुछ अलग ही हैं—

चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥

विषयानन्दसे व्यतिरिक्त आनन्दका अतिरूप दान करनेमें परमानन्दमूर्ति श्रीराम सर्वोपरि हैं—***'अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा।'***

यह विग्रह (राम) स्पष्ट हुआ कि आनन्द भर जाता है। अहल्या तो हृदयहीन पत्थर थी, परंतु ***'परसत पद पावन'*** हुआ कि ***'गै पति लोक अनंद भरी'*** दिखायी दिया। रामके दिव्य स्वरूपको देखते ही महामुनि ज्ञानी (विश्वामित्र) भी बेसुध हो जाते हैं—

राम देखि मुनि देह बिसारी।
भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥

महर्षि विश्वामित्र इन परमानन्दमूर्ति श्रीरामको लेकर राजा जनकके 'धनुषयज्ञ'-महोत्सवमें पहुँचते हैं। विदेहावस्थाको प्राप्त योगिराज जनक जिन्हें ब्रह्मानन्द प्राप्त था, वे भी इन्हें देखकर अपना सुध-बुध खो बैठते हैं, मुनिराजसे परिचय पूछने लगते हैं और कहते हैं—वस्तुतः ये कौन हैं? इन्हें

देखकर मेरा मन तो अब इन्हींमें अनुरक्त हो गया और इसने स्वाभाविक रूपसे निरन्तर अपने परमप्रिय ब्रह्मानन्द सुखका हठात् सर्वथा परित्याग कर दिया—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

× × ×

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥

इसके उत्तरमें महर्षि विश्वामित्रने कहा—

ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।

रघुकुल मनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए॥

इससे जनकजी बहुत आनन्दित हुए और बोले—

सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँद दाता॥
इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि। कहि न जाइ मनभाव सुहावनि॥
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥

रामका परमानन्द-विग्रह जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ सुखकी वृष्टि होने लगती है, आनन्द उमड़ पड़ता है और सुखका साम्राज्य छा जाता है। जनकके लिये आनन्दप्रद, विश्वामित्रके लिये सुखनिधान, बच्चोंके मन और आँखोंको ललचानेवाली अति शोभामयी यह मूर्ति जनकपुरवासियोंने इस प्रकार देखी—*'मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥'* नागरिकोंने देखा कि उन्हें नयन-लाभ मिल गया और वे सुखी हो गये। यही झाँकी जब युवतियोंने झरोखोंसे झाँककर देखी तो वे सुमन बरसाने लगती हैं, वे आनन्दित हो गयीं, परमानन्द पा गयीं।

हियँ हरषहिं बरषहिं सुमन सुमुखि सुलोचनि बृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद॥

यद्यपि मिथिलाकी युवतियोंके लिये *'निरखहिं राम रूप अनुरागी'* लिखा गया, किंतु उन्हें परिणामतः परमानन्द ही प्राप्त होता है।

राम कभी 'नरभूषन' तो कभी शृङ्गारकी अनूपमूर्ति प्रतीत होते हैं, परंतु सीताके लिये उनका स्वरूप-चिन्तन कवियोंके मन-वाणीके परेकी वस्तु है—

रामहिं चितव भायँ जेहि सीया। सो सनेहु सुखु नहि कथनीया॥

ब्रह्मानन्दमें सदा लीन रहनेवाले सनकादि योगिजनोंने रामको देखा और वे परमानन्दमें निमग्न हो गये—

ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहुकालीना॥
मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥

परमानन्द श्रीरामकी दशा देखिये—

तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा॥

सनकादिकोंने हाथ जोड़कर 'प्रेमाभक्ति' की याचना की—

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥

इस प्रकार तुलसीके राम मर्यादापुरुषोत्तम, अवतारी पुरुष, चरित-नायक, भगवान् किंवा अखिल ब्रह्माण्डनायक तो हैं ही, परंतु उनका मूलस्वरूप 'विशुद्ध आनन्दमय' है। वे परमानन्द हैं, आनन्द बाँटते रहे हैं, इसीसे वे मङ्गल-भवन, सुखमूल और करुणानिधान भी हैं।

प्रार्थना

हे परमात्मन्! मानव-जीवनकी समस्त प्रार्थनाओंके भीतर एक ही अत्यन्त गम्भीरतम प्रार्थना (आकाङ्क्षा) है, उसे हम अपनी बुद्धिसे स्पष्ट जानें या न जानें, उसे हम मुँहसे बोलें अथवा न बोलें, हमारे भ्रममें भी, हमारे दुःखमें भी, हमारी अन्तरात्मासे वह प्रार्थना (आकाङ्क्षा) सदा-सर्वदा तुम्हारे अभिमुख मार्ग खोजती रहती है। वह प्रार्थना यही है कि हम अपने समस्त ज्ञानके द्वारा शान्तको जान सकें, अपने समस्त कर्मोंके द्वारा शिवका दर्शन कर सकें, अपने समस्त प्रेमके द्वारा अद्वैतको प्राप्त कर सकें। फलके लाभकी आशाको हम तुमसे निवेदन करनेका साहस नहीं कर सकते, किंतु हमारी आकाङ्क्षा यही है कि समस्त विघ्न-विक्षेप-विकृतिके मध्यमें भी इस प्रार्थनाको हम समस्त शक्तिके साथ सत्यरूपसे तुम्हारे समीप उपस्थित कर सकें। हमारी समस्त अन्य वासनाओंको व्यर्थ करके हे अन्तर्यामिन्! केवल इसी प्रार्थनाको स्वीकार करो कि हम कभी-न-कभी ज्ञानमें, कर्ममें और प्रेममें यह उपलब्धि कर सकें कि तुम्हीं 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' हो।

भागवतीय प्रवचन—३२

संयमकी शिक्षा

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

एक बार विदुरजीने मैत्रेयजीसे अनेक प्रश्न पूछे—भगवान् अकर्ता हैं फिर भी कल्पके आरम्भमें इस सृष्टिकी रचना उन्होंने कैसे की ? संसारमें सभी सुखके लिये प्रयत्न करते हैं फिर भी न तो उनका दुःख दूर होता है और न तो उन्हें सुख मिलता है। ऐसा क्यों ? इन प्रश्नोंका उत्तर मिले, ऐसी कथा कीजिये और भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन कीजिये।

मैत्रेयजीने कहा—सृष्टिकी उत्पत्तिकी कथा भागवतमें बार-बार आती है। तात्त्विक दृष्टिसे जगत् मिथ्या है। अतः साधुओंने उसका अधिक विचार नहीं किया है। किंतु सृष्टिके कर्ताका बार-बार विचार किया है।

परमात्माको मायाका स्पर्श हुआ तो उसने संकल्प किया कि मैं एकसे अनेक बनूँ। **'एकोऽहं बहु स्याम्।'** पुरुषमेंसे प्रकृति, प्रकृतिमेंसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वमेंसे अहंकार उत्पन्न हुआ। अहंकारके चार प्रकार हैं। फिर पञ्चतन्मात्रसे पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्ति हुई। किंतु ये तत्त्व स्वयं कुछ भी क्रिया नहीं कर सकते थे, अतः ईश्वरने प्रत्येक वस्तुमें प्रवेश किया।

उपनिषद्‌में कहा है कि प्रत्येक वस्तुमें प्रभुने प्रवेश किया है, अतः सारा जगत् परमात्माका मङ्गलमय स्वरूप है।

भगवान्‌की नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ। उसमेंसे ब्रह्मा प्रकट हुए। ब्रह्माजीने कमलका मूल खोजनेका प्रयत्न किया तो चतुर्भुज नारायणके दर्शन हुए। ब्रह्माजीने उनका स्तवन किया।

संतति और सम्पत्ति भगवत्कृपाका फल नहीं है, प्रारब्धका फल है। भगवान् जिसपर कृपा करते हैं, उसका मन शुद्ध होता है। बिना मनःशुद्धिके ईश्वरका दर्शन नहीं होता। ईश्वर-दर्शनके बिना जीवन सफल नहीं होता।

जिसने मुझे जन्म दिया, उसे जाननेका मैंने प्रयत्न भी नहीं किया। मेरे-जैसा मूर्ख और कौन होगा।

ब्रह्माजीको भय लगा कि संसारमें आनेपर इन्द्रियाँ कहीं अनुचित मार्गपर न चली जायँ। ब्रह्माजीने सृष्टिका निर्माण किया। कामको जन्म दिया। कामने प्रथम पिताको मोहित किया।

प्रथम हुए स्वायम्भुव मनु और शतरूपा रानी। उस समय पृथ्वी तो रसातलमें डूबी हुई थी। ब्रह्माने सोचा कि प्रजाका निर्माण तो करूँ, किंतु उसे बसाऊँ कहाँ ? क्योंकि भूतधात्री पृथ्वीको चुराकर हिरण्याक्ष दैत्यने रसातलमें छिपा रखा था। अतः नासिकामेंसे वराह भगवान् प्रकट हुए। उन्होंने पृथ्वीको पानीमेंसे बाहर निकाला। मार्गमें मिले हिरण्याक्षको मारा और पृथ्वीका शासन मनुके हाथमें सौंपकर भगवान् वराह स्वधाम लौट गये।

विदुरजीने मैत्रेयजीसे कहा कि 'आपने तो बहुत संक्षिप्त कथा सुनायी। इस कथाका रहस्य क्या है ? वह हिरण्याक्ष कौन था ? धरती रसातलमें क्यों डूबी थी ? वराहनारायणका चरित्र मुझे सुनाइये।'

यह कथा मैत्रेयजीने विदुरजीको सुनायी थी और श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌को।

मैत्रेयजीने विदुरजीसे कहा—दिति कश्यप ऋषिकी धर्मपत्नी थीं। एक दिन सायंकालको दिति शृङ्गार करके पतिके पास आयी और उसने पुत्र-प्राप्तिके लिये उनसे प्रार्थना की।

कश्यपने कहा—'देवि ! यह समय सायंकालका है, पुत्र-प्राप्तिकी प्रार्थनाका यह अनुचित अवसर है। जाओ, दीपक जलाओ।'

शास्त्रमें कहा गया है कि सौभाग्यवती स्त्रीमें लक्ष्मीका अंश है। सायंकालके समय लक्ष्मीनारायण घर आते हैं। उस समय घर बंद होगा तो लक्ष्मीजी 'जय श्रीकृष्ण' कहती हुई वापस लौट जायँगी। आजकल तथाकथित सुधरे हुए लोग प्रायः सायंकालमें ही ताला लगाकर बाहर निकल पड़ते हैं। घूमने जाना ही हो तो सूर्यास्तके पूर्व घरमें लौट आना चाहिये। स्त्रियोंको चाहिये कि सायंकालमें घरके बाहर भटकती न फिरें। संध्या-समय तुलसीकी पूजा करनी चाहिये और वहाँ दीपक जलाना चाहिये। भगवान्‌के समीप धूप-दीप जलाना चाहिये।

मनुष्यके हृदयमें अन्धकार है। वहाँ प्रकाश जलाना है।

दशम स्कन्धमें कथा है—गोपियाँ यशोदाजीसे कहती हैं कि कन्हैया हमारा माखन चुराकर खा जाता है। यशोदा कहती हैं कि अँधेरेमें माखन रखा करो, जिससे कन्हैया उसे देख ही न पाये। गोपियाँ कहती हैं कि माखन तो अँधेरेमें ही रखा था, किंतु कन्हैयाके आते ही वहाँ प्रकाश हो गया।

ईश्वर परप्रकाशी नहीं है, वह तो स्वयंप्रकाशी है। परमात्माको दीपककी आवश्यकता नहीं है। दीपककी आवश्यकता तो मानवको है।

सायंकालमें सूर्य और चन्द्रके तेज क्षीण होते हैं, दुर्बल होते हैं, सूर्य बुद्धिका स्वामी है और चन्द्र मनका। मन और बुद्धिके स्वामी सूर्य-चन्द्रके सायंकालमें दुर्बल होनेके कारण मन और बुद्धिमें काम उस समय प्रवेश पा जाता है। काम मनमें सांध्यवेलामें प्रवेश करता है और रात्रिको प्रकट होता है। संध्याकालमें प्रभुके नामका जप करोगे तो मनमें कामका प्रवेश नहीं हो पायेगा।

कश्यप ऋषि दितिको समझाते हैं कि मानिनि ! मान जाओ। भूतभावन भगवान् शंकर इस समय अपने गण—भूत-प्रेतादिको साथ लिये हुए बैलपर चढ़कर विशेषरूपसे विचरा करते हैं। अतः इस समय ऐसा करनेसे भगवान् शंकरका अपमान होगा और अपमानके कारण अनर्थ होगा।

'भस्मान्तं शरीरम्।' इस शरीरका अन्तमें तो भस्म ही होगा। अतः शिवजी भस्म लगाते हैं और जगत्‌को वैराग्यका बोध कराते हैं। शरीरका अतिशय लालन न करो। सर्वदा स्मरण रखो कि इस शरीरको एक-न-एक दिन श्मशानमें ही जाना है। गृहस्थाश्रम विलासके लिये नहीं है, परंतु मर्यादामें रहकर विवेकसे गार्हस्थ्य-सुखका उपभोग करके कामपर विजय पानेके लिये है, वैराग्यके लिये है। नियमपूर्वक कामके विनाशके लिये यह गृहस्थाश्रम है। काम ऐसा दुष्ट है कि एक बार हृदयमें प्रवेश करनेके पश्चात् वह बाहर निकलता ही नहीं है। एक बार कामके अंदर प्रविष्ट होनेपर तुम्हारा सारा सयानापन हवा हो जायगा। अतः जीवन ऐसा सादा और पवित्र बनाओ कि राग मन-बुद्धिमें प्रवेश करनेका अवसर कभी पा ही न सके।

उल्लुओंने एक सभामें प्रस्ताव पास किया, 'सूर्य-नारायणका अस्तित्व है ही नहीं, क्योंकि वे हमें दिखायी नहीं देते।' उल्लू सूर्यको देख न सके तो क्या इसका अर्थ यह है कि सूर्यका अस्तित्व ही नहीं है ? धर्ममें आस्था न रखनेवाले, ईश्वरको न माननेवाले उल्लूके बड़े भाई ही हैं।

दितिकी भेद-बुद्धिमेंसे ही इन हिरण्याक्ष और हिरण्य-कशिपुका जन्म हुआ [illegible] अभेदभाव रखनेपर पाप नहीं होगा।

दितिने कश्यपकी बात न मानी और कश्यप भी दितिके दुराग्रहके आगे अवनत हो गये। अन्तमें दितिको अपनी क्षतिका भान हुआ। वह पछतायी। उसने कश्यपकी पूजा की और भगवान् शिवजीसे क्षमा-याचना की।

कश्यपने कहा कि 'तुम्हारे गर्भसे दो राक्षस उत्पन्न होंगे।'

पति और पत्नी उचित संयमका पालन न करें तो उनसे पापी प्रजाकी उत्पत्ति होती है। पवित्र तिथि जैसे कि दोनों पक्षोंकी द्वितीया, पञ्चमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावास्या तथा पर्वोंके दिन ब्रह्मचर्यका पालन अवश्य करना चाहिये। लोग कहते हैं कि काल बिगड़ गया है, अतः पापी प्रजा उत्पन्न हो रही है। वैसे काल भी कुछ-कुछ बिगड़ा तो है ही, पर लोगोंका हृदय अधिक बिगड़ गया है। एकादशी, पूर्णिमा तथा पवित्र दिनोंका विचार किये बिना ही कामान्ध हो जाते हैं, अतएव पापी प्रजा उत्पन्न हो रही है।

मनुष्य केवल इस शरीरका ही विचार करेगा, तो भी उसके हृदयमें शरीर-सुखके प्रति तिरस्कारभाव उत्पन्न होगा और वैराग्यके भावोंकी उत्पत्ति होगी। यह शरीर कैसा है ? इसमें हड्डियाँ टेढ़ी-तिरछी बिठा दी गयी हैं। उसपर मांस रख दिया गया है और फिर त्वचासे मढ़ दिया गया है। अतः अंदरकी वस्तुएँ नहीं दीखतीं। अन्यथा रास्तेमें पड़े हुए हड्डीके टुकड़ेको कोई भी स्पर्श नहीं करेगा। वह सोचेगा कि उसे स्पर्श करनेसे शरीर अपवित्र हो जायगा। परंतु वही मनुष्य देहमें छिपी हुई हड्डियोंसे प्रेम करता है। ऐसी मूर्खता दूसरी और क्या होगी।

भागवतमें एक स्थानपर कहा गया है कि शरीर तो कुत्ते और लोमड़ीका भोजन है। अग्निसंस्कार न हो तो इसे कुत्ते ही खायेंगे। ऐसे शरीरका मोह छोड़ देना चाहिये।

जब दितिने जाना कि उसके गर्भसे राक्षस उत्पन्न होंगे तो वह घबड़ा गयी। कश्यपने कहा कि उनका संहार करनेके लिये भगवान् नारायण आयेंगे। दितिने कहा कि तब तो मेरे पुत्र बड़े भाग्यशाली होंगे।

कश्यपने दितिको ऐसा भी आश्वासन दिया कि तेरा पौत्र महान् भगवद्भक्त और महान् वैष्णव होगा और प्रह्लाद नामसे जगत्में विख्यात होगा।

भक्त-गाथा—

भक्त जन-जसवंत

(श्रीदिवाकरजी जोगलेकर साहित्यरत्न)

संवत् १६६५ के लगभग बागलाणका प्रदेश (नासिक) प्रतापशाह नामक राजपूत राजाके अधिकारमें था। मुल्हेरके किलेमें उसका निवास था। राज्यमें अन्न-वस्त्रकी कमी नहीं थी। प्रजा बड़े सुखसे जीवन-यापन करती थी। यद्यपि राज्यका प्रबन्ध कुछ दक्ष मन्त्रियोंके कारण साधारणतया ठीक था तथापि चापलूसी करनेवालोंका भी अभाव नहीं था।

कहा जाता है कि भक्त जन-जसवंतके पिता श्रीजनार्दन पंत राजाका पौरोहित्य किया करते थे, कभी-कभी राज-काज चलानेमें भी कुछ सहायता कर दिया करते थे। जनार्दन पंत शुक्लयजुर्वेदी वाजसनेयी माध्यन्दिन शाखाके शाण्डिल्यगोत्री पवित्र ब्राह्मण थे। ऐसे उच्च पवित्र कुलमें 'जन-जसवंत'का जन्म हुआ था। सातवें वर्षमें उनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। थोड़े ही समयमें उन्होंने अपने पौरोहित्य कार्यके लिये जितना आवश्यक था, उतना अध्ययन कर लिया। दसवें वर्षमें उस समयकी प्रथाके अनुसार उनका विवाह कर दिया गया। इसके पश्चात् शास्त्रोंका भी अध्ययन हुआ। जसवंत स्वभावतः अध्ययनशील और सदाचारपरायण थे, परंतु कहा जाता है कि युवावस्थामें उनका एक बार अपनी पत्नीके प्रति विशेष आकर्षण हो गया था और वे उनका साथ कभी छोड़ना ही नहीं चाहते थे। फल यह हुआ कि आध्यात्मिक प्रवृत्ति तो दूर रही, व्यावहारिक कार्योंके प्रति भी उनका ध्यान नहीं रहा। धर्मपरायणा राजमाता चन्द्रावती अपने पुरोहित जनार्दन पंतके पुत्र जसवंतको उसकी सद्बुद्धिके कारण बहुत चाहती थीं। उनको जसवंतका इस प्रकारका बर्ताव अच्छा नहीं लगा। राजमाताने मौका पाकर जसवंतको बुलाया और विषयासक्तिका दुष्परिणाम बतलाकर उन्हें उचित शिक्षा दी और कहा—'यदि वह सांसारिक कार्योंको करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा तन, मन, धनसे करेगा तो उसका उद्धार होनेमें देर नहीं लगेगी।' सौभाग्यवश राजमाताके हृदयस्पर्शी उपदेशसे थोड़े ही कालमें जसवंतको अपनी प्रवृत्तिपर पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने कामपर विजय प्राप्त की। तत्पश्चात् वे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा साधु-संतोंकी सेवामें लग गये।

कुछ दिनों बाद उन्होंने सुना कि मुल्हेरके पास गणपति धुरें नामक ग्राममें दो सिद्ध योगी पधारे हैं। अतः वे उनके दर्शनार्थ गये और फिर उन्होंने उनकी सेवा करना आरम्भ किया। जसवंत प्रतिदिन उनके लिये अपने घरसे भोजन ले जाते थे और योगियोंके भोजनके पश्चात् घर लौटकर स्वयं भोजन करते थे। योगियोंके साथ भगवच्चिन्तनमें उनका समय व्यतीत होता था। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया। एक बार भोजन ले जाते समय मार्गमें उन्हें श्याम और गौर वर्णके दो युवक मिले। वे कहने लगे—'हम भूखे हैं, हमें भोजन दो।' इसपर जसवंतने कहा कि 'यह भोजन तो मैं योगियोंके लिये ले जा रहा हूँ। उनको देकर फिर आपके लिये घरसे दूसरा बनवाकर ला दूँगा।' यों कहकर जसवंत योगियोंके स्थानपर पहुँचे, परंतु उनको वे नहीं मिले। इससे उन्हें बड़ी निराशा हुई। विचार किया कि मार्गमें जो दो युवक मिले थे, उन्हें भोजन दे दूँ। आश्चर्यकी बात हुई कि वे दोनों भी वहाँसे कहीं चले गये। जसवंतके मनमें आया कि निश्चय ही इसमें कोई गूढ़ रहस्य है। अब उनकी मानसिक स्थिति विचित्र-सी हो गयी। उन्हें ऐसा लगा कि वे दोनों योगी और युवक सम्भवतः भगवान् राम-लक्ष्मण ही थे। अब तो वे उनकी खोजमें लग गये और मनमें निश्चय कर लिया कि उनका पता लगाये बिना घर नहीं जाऊँगा। जसवंतको उनके अतिरिक्त अब संसारमें किसी भी वस्तुके प्रति कोई रुचि नहीं रह गयी। उनकी खोजमें जसवंत जंगलमें इधर-उधर भटकते रहे। आशा-निराशाका झगड़ा चल रहा था। उन्हें और कुछ भी नहीं सूझता था। आखिर चलते-चलते वे थक गये। नींद आ गयी। स्वप्नमें भगवान्ने दर्शन देकर कहा—'पञ्चवटीमें जाकर मेरी सेवा करो, वहाँ दर्शन होंगे।'

सात दिन हुए जसवंतका पता नहीं था। घरमें सब लोग चिन्ताग्रस्त हो गये। लोगोंने ग्राम और उसके आस-पासका कोना-कोना छान डाला, पर कहीं जसवंतका पता नहीं मिला। एक दिन उनकी पत्नीने अकस्मात् उन्हें घरपर आये देखा। वह आश्चर्य और आनन्दमें भरकर पूछने लगी—'इतने दिन आप

कहाँ थे ?' जसवंतने पत्नीसे सारा वृत्तान्त कह दिया। धीरे-धीरे ग्राममें यह बात फैल गयी। अपने उपदेशकी सफलता देख राजमाता तो आनन्दमें डूब गयीं। जसवंतकी वृत्ति अब शान्त, दृढ़ और संयमपूर्ण हो गयी थी।

इस घटनाके पश्चात् राजमाताकी आज्ञा लेकर जसवंत पञ्चवटी गये। वहाँ एक गुहामें रहकर उन्होंने कठोर तप किया। ब्राह्म मुहूर्तसे लेकर रात्रिको निद्राके समयतक भजन, ध्यान, धारणा, उपासना आदि साधन लगातार चलने लगा। वे केवल कन्द-फल-मूलपर अपना निर्वाह करते थे। किसीसे कुछ नहीं माँगते-लेते थे। इस प्रकार भजन-ध्यान और नाम-संकीर्तनमें वे तन्मय हो गये। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने देखा कि जसवंत अब उपदेश-ग्रहणके योग्य हो गया है। उन्होंने जसवंतको स्वप्नमें पुनः दर्शन दिया। जसवंतने देखा कि धनुर्धारी भगवान् श्रीराम सीताजी और हनुमान्‌जीके सहित खड़े हैं और अत्यन्त प्रसन्नतासे कृपाकी वर्षा-सी करते हुए आदेश दे रहे हैं कि तू अब गुरुसे उपदेश ग्रहण करने योग्य हो गया है। अतः काशी जाकर मेरे परम प्रिय भक्त तुलसीदाससे उपदेश ग्रहण कर। जसवंतने कहा—'भगवन्! अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। मेरा मनोरथ सफल हो गया। आपके इस दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया, आप ही मेरे स्वामी, माता, पिता, गुरु सब कुछ हैं।' इसपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा कि 'तेरी यह बुद्धि तो बहुत ही ठीक है, मैं तुझपर बहुत प्रसन्न हूँ, पर तू मेरी आज्ञा मानकर काशी जा।' वे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन और आदेशसे अपनेको धन्य-धन्य मानने लगे।

जसवंतको अपने ग्रामसे होकर काशी जाना था। ग्राममें पहुँचते ही उन्हें समाचार मिला कि उनकी आदिगुरु धर्मपरायणा राजमाता चंद्रावतीजीका स्वर्गवास हो गया। जसवंतने उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पण की। ग्रामवासियोंको जसवंतके काशी जानेका विचार ज्ञात होते ही उनमेंसे कुछ लोग तीर्थाटनके उद्देश्यसे उनके साथ हो लिये। उन्हें जसवंतके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। वे जसवंतको बड़ा भक्त मानते थे। जसवंतकी पत्नी और उनके साले तात्याजी भी उनके साथ काशीको रवाना हुए।

जसवंत मण्डलीके साथ-साथ सातपुड़ा पहाड़के सघन घाटके निर्जन प्रदेशसे होते हुए चले जा रहे थे। रास्तेमें डाकुओंने उन सबको घेर लिया। सब डरके मारे काँपने लगे, उनका धैर्य नष्ट हो गया, भागनेके लिये कोई मार्ग नहीं था। इस कठिन परिस्थितिमेंसे पार जाना उनके लिये एक गम्भीर समस्या हो गयी। जसवंत महाराजने सबको धीरज देते हुए कहा—'आपलोग घबरायें नहीं। भगवान्‌का स्मरण करें। शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ही सबके एकमात्र रक्षक और सहायक हैं। वे दीनबन्धु हैं। आपलोग उन्हें पुकारिये। सच्चे हृदयकी आर्त पुकार वे अवश्य सुनते हैं। शोक-मोह और विषादमें फँसकर धैर्य खोनेसे आप बच नहीं जायँगे, परंतु आर्तत्राणपरायण भगवान्‌का भजन अवश्य आपकी रक्षा करेगा। मेरे साथ ही आप सब लोग भगवान्‌के नामकी पुकार कीजिये।' भक्त जसवंतकी बात सुनते ही सब लोगोंमें हिम्मत आ गयी और वे आनन्द तथा विश्वासके साथ भगवान्‌का नाम-कीर्तन करने लगे। उनके अगुआ जसवंत ही थे। रामनामसे आकाश गूँज उठा। थोड़े ही समयमें सब लोगोंने देखा कि घेरा डालनेवाले लुटेरे भागे जा रहे हैं। डाकुओंने देखा कि कोई एक घुड़सवार हाथमें धनुष-बाण लिये उनको ललकार रहा है। उन्हें ऐसा लगा कि यह अभी सबको बाणोंसे बींध डालेगा। इससे वे सब भागकर अपने सरदारके पास पहुँचे। सरदारने उस सवारके पास आकर क्षमा माँगी, किंतु सवारने उससे कहा—'तुमलोग जसवंतजीकी शरणमें जाओ, वे ही तुमलोगोंको बचा सकते हैं।' इतना कहकर सवार अन्तर्धान हो गया। डाकू-सरदार आश्चर्यमें पड़कर जसवंतकी शरणमें गया। जसवंतके पूछनेपर उसने सारी घटना सुनायी। जसवंतको यह समझते देर नहीं लगी कि शरणागतकी रक्षा करनेवाले परम दयालु भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ही सवारका रूप धारण कर हमारी रक्षा की है। उनका हृदय द्रवित हो गया, शरीर पुलकित हो गया। आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे। उन्होंने कहा—'सरदार! आपलोग धन्य हैं, जो आपको तथा आपके आदमियोंको भगवान्‌के दुर्लभ दर्शन हुए।' यह सुनकर डाकू-सरदार आश्चर्यचकित हो गया। उसको अपने बुरे कृत्योंके लिये बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था। उसने महाराजसे क्षमा माँगी। जसवंतने उसे अभय देकर कहा कि 'अबतक जो

हुआ, सो हुआ, भविष्यमें ऐसे बुरे और नृशंस कृत्योंको छोड़कर राम-भजनमें लग जाओ, जिससे तुमपर भगवान्‌की कृपा और भी होगी।' उसी समयसे वह डाकू राम-भक्त बन गया।

इस प्रदेशको जनशून्य देखकर जसवंतने सरदारसे उसका कारण पूछा। सरदारने बताया कि हमलोग भील हैं, मैं राजा हूँ। इस प्रान्तके सूबेदारके साथ हमारा झगड़ा हो गया था। फलस्वरूप सूबेदारने हमारे लड़केको कैद कर लिया। उसका बदला लेनेके लिये सूबेदारके इस प्रदेशको लूट-मार आदि उपद्रव करके हमलोगोंने निर्जन कर दिया। हमलोगोंके भयसे यहाँ कोई नहीं आता। यह सुनकर जसवंतजीने सूबेदारको बुलवाया और दोनोंमें समझौता करा दिया। वे पूर्ववत् मित्रताके साथ रहने लगे।

यात्रियोंकी मण्डली आगे बढ़ी। मालवामें जसवंतकी कीर्ति सुनकर असंख्य लोगोंने भगवान्‌के नामसंकीर्तनका लाभ उठाया। जसवंतजीकी वाणीमें प्रेम और आकर्षण था। उसका प्रभाव पड़ते देर नहीं लगती थी। वे उचित उपदेश देकर सबको सन्मार्गपर लगाते थे। इस प्रकार मार्गमें स्थान-स्थानपर राम-नामकी लूट होती रही। धीरे-धीरे यात्रियोंका दल प्रयाग होते हुए आनन्दके साथ काशी पहुँचा।

जसवंत यात्रियोंके साथ यद्यपि तीर्थाटन-विधि करनेमें व्यस्त थे, तथापि काशी जानेके मूल उद्देश्यको वे भूले नहीं थे। कहते हैं कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीको जसवंतके सम्बन्धमें स्वप्न हुआ था। जसवंतके आगमनकी बात सुनकर वे आनन्द-पुलकित हो गये। जसवंत समित्पाणि होकर गुरुजीकी शरणमें गये। गोसाईंजीने जसवंतको आश्वासन देकर रामतत्त्वका उपदेश दिया। उपदेश ग्रहण करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि जसवंतकी भूमिका पहलेसे ही भक्त और सत्-शिष्यकी थी। गोसाईंजी जसवंतकी बुद्धिमत्ता और सदाचरण देखकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। कुछ दिनोंके बाद तुलसीदासजीकी आज्ञासे जसवंतजी गयाजी हो आये। पुण्यस्थली काशीकी शोभा और पवित्रता देखकर यात्रियोंका जीवन सफल हो गया। जसवंत सब साथियोंको बिदा देकर स्वयं काशीमें ठहरे। कहते हैं कि वे एक बार गोस्वामीजीके साथ वृन्दावन भी गये थे।

काशीमें जसवंतने गुरुदेवकी संनिधि और सेवामें प्रसन्नतापूर्वक अपना काल बिताया। इसके बाद गुरुजीकी आज्ञा लेकर वे स्वदेश लौटनेके लिये प्रस्तुत हुए। बिदा होते समय गोस्वामी तुलसीदासजीने उनको पूजाके लिये प्रेमपूर्वक श्रीहनुमान्‌जीका सुन्दर विग्रह प्रसादस्वरूप दिया।

लौटते समय मार्गमें जसवंतको पाँच सौ साधुओंका एक दल मिला। वे द्वारका जा रहे थे। जसवंतजी उनके साथ हो लिये। द्वारका होकर सब लोग डाकोर गये। वहाँ तीर्थविधिका आचरण करके सब आगेकी यात्राके लिये चले। भजन, कीर्तन और सत्संग यही उनका विषय था। साधुओंने जसवंतमें अलौकिक गुणोंका अनुभव किया। मार्गमें उन्हें एक वीरान प्रदेश मिला। गरमियोंके दिन थे, कड़ाकेकी धूप थी। साधु प्यासके मारे तड़पने लगे। यह देखकर जसवंतने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी प्रार्थना की । उन्होंने कहा—'मेरे प्रभो ! ये साधु बड़े ही कष्टमें हैं। इस वृक्षहीन और निर्जल प्रान्तमें तुम्हारे बिना जल देनेवाला कौन है ? तुम दयासागर हो। जलके बिना मीन कैसे जीयेंगे ?' कहा जाता है, जसवंतको एक सूखा कुआँ दिखायी दिया। वे कुएँके पास गये और भगवान्‌का नाम लेकर उन्होंने अंदर एक पत्थर डाल दिया। बस, भगवत्कृपासे उसमें पानी आ गया। साधुओंको आश्चर्य हुआ। गद्‌गद होकर सबने जलपान किया। कहते हैं कि अब भी 'जसवंतनो कुवो' के नामसे यह कुआँ प्रसिद्ध है। साधुओंने संतुष्ट होकर जसवंतको 'जल-जसवंत' की उपाधि दी। यहाँसे जसवंत उनसे अलग होकर अपने गाँवकी ओर चले। कुछ समयमें जसवंत अपने गाँव मुल्हेर पहुँचे। उनको आया देखकर सब लोगोंको बड़ा आनन्द हुआ। मन्दिरमें लगातार आनन्दोत्सव भजन-पूजनादि होने लगा। उत्सवोंकी धूम मच गयी। जसवंत कविता भी करते थे। उन्हें लोग 'जन-जसवंत' या 'जनि-जसवंत' के नामसे पुकारने लगे। राजा प्रतापशाहको समाचार मिला कि जसवंत लौट आया है और वह बड़ी अच्छी कविता बनाता है। राजाकी इच्छा हुई कि 'जसवंत मेरा गुणगान करे।' इसलिये राजाने जसवंतको दरबारमें बुला भेजा। जसवंतको पता नहीं था कि राजाका गुणगान करनेके लिये उसे बुलाया गया है। जब राजाने जसवंतसे अपनी कीर्तिका गान करनेके लिये कहा, तब

जसवंतको पता लगा। उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी और उन्होंने उत्तर दिया कि मैं तो केवल अपने भगवान्‌का ही गुणगान करना जानता हूँ। उन्होंने तुरंत पद्य-रचना करके कहा कि 'जो भगवान्‌का स्तवन न करके किसी मनुष्यको संतुष्ट करनेके लिये उसका स्तवन करता है, वह एक 'खरमुख' (गधेके मुँहके समान मुखवाला) ही माना जायगा। आप राजा हैं, जैसा करेंगे वैसा ही आपको फल मिलेगा, किंतु पूर्वका सूर्य पश्चिममें क्यों न उग जाय, मैं तो श्रीहरिका ही गुण गाऊँगा।' जसवंत किसीसे डरता नहीं।

अहंकारी राजाको जसवंतके वचन बहुत बुरे लगे। उस घमंडी राजाने तुरंत ही सेवकोंको आज्ञा दी कि जसवंतकी पोट बाँधकर उसे तालाबमें डुबा दो। सत्यनिष्ठ, दरबारी और प्रजाके लोगोंने राजासे प्रार्थना की कि यह काम बहुत बुरा है। ऐसा नहीं करना चाहिये, परंतु मदमत्त राजाने उनकी एक न सुनी। राजाके क्रूर सेवकोंके द्वारा जसवंत तालाबमें डुबो दिये गये, परंतु—

जाको राखे साइयाँ मार सकै नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सकै सब जग बैरी होय॥

—इस उक्तिके अनुसार कहा जाता है कि भगवान्‌ने कूर्मका रूप धारणकर उन्हें अपनी पीठपर ले लिया और किनारेपर लाकर छोड़ दिया। यह देखकर सब लोग जसवंतकी भक्ति और उनपर भगवान्‌की जो कृपा है, उसकी प्रशंसा करने लगे। सब उनको अनन्य भक्त मानने लगे। जसवंतने कहा—

कोई निन्दो कोई बन्दो, कोई कैसो कहो रे।
रघुनाथ साथे प्रीति बाँधी, होय तैसे होय रे॥
कामलियामें मोट बाँधी, नीर था भरपूर रे।
रामचन्द्रने कूर्म होकर, राख लीन्हों पीठ रे॥
चन्द्र सूर्य जैसि ज्योति थंभ बिनु आकाश रे।
जल उपर पाषाण तारे, क्यूं न तारे दास रे॥
जपत शिव सनकादि मुनिजन, नारदादिक संत रे।
जन्म जन्मके स्वामि वर रघुनाथ, दास जनि जसवंत रे॥

यह पद्य महात्मा गाँधीकी 'आश्रम-भजनावली' (पृ० १२० पर, भजन ७९) में मिलता है। इसमें हमें जसवंतजीकी दृढ़ भक्तिका परिचय प्राप्त होता है।

इस घटनाके पश्चात् जसवंतने तुरंत ही ग्राम छोड़नेका निश्चय किया और वे तापी नदीके किनारेपर बोरठे नामक ग्राममें जाकर एकान्तवास करने लगे। वहाँ वे आनन्दके साथ भगवद्‌भजनमें अपना काल व्यतीत करने लगे। वे लोगोंको उनकी योग्यतानुसार उपदेश देते थे और प्रतिदिन हरिकीर्तन करते थे। कहा जाता है कि एक बार तापी नदीमें जोरकी बाढ़ आनेके कारण ग्रामके बह जानेकी आशङ्का हो गयी। सब ग्रामवासी निराश हो गये। जसवंतने इस समय श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे तुलसीदासजीके दिये हुए श्रीहनुमान्‌जीके श्रीविग्रहको नदीके किनारेपर रखा। बस, मूर्ति रखते ही जल धीरे-धीरे हट गया। कहते हैं कि 'हनुमान्‌जी सब पानी पी गये।' इस प्रकार वह गाँव बाढ़के भारी खतरेसे बच गया। आजकल यह मूर्ति ग्राम कुकुरमुंडे (तहसील-तलोदे-पश्चिम खानदेश) में है। यह ग्राम बोरठे ग्रामसे चार मीलकी दूरीपर है। वहाँ उनके अनेकों अनुयायी हो गये। उस ग्राममें गुजराती धनी लोग रहा करते थे। जसवंतजीके प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा-भक्ति थी। उन्होंने जसवंत महाराजके लिये एक सुन्दर राममन्दिर बनवाया।

जसवंत अपना अधिकांश समय भगवान्‌के गुणगानमें ही व्यतीत करते थे। उनकी कविता आजकल उपलब्ध नहीं है। कुछ थोड़ी ही उपलब्ध हो सकी है, जिसमें रामजन्म, हनुमान्‌जीका लंका जाना, सीतासुधि आदि कुछ प्रसङ्ग हैं *।

इस प्रकार जसवंतजी महाराजने अपना जीवन-कार्य समाप्त करके तापी नदीके तटपर संवत् १६७४ की फाल्गुन शु० ८ को समाधि ग्रहण की। बोरठेमें तापीके जलमें एक शिलाखण्डपर उनकी पादुका स्थापित की गयी है।

---

* यह लेख समर्थभक्त श्रीशंकर श्रीकृष्णदेव, समर्थ-वाग्देवता मन्दिर, धुलियाके लेखके आधारपर लेखकने लिखा है। भक्त जन-जसवंत गोस्वामीजी श्रीतुलसीदासजीके शिष्य बतलाये गये हैं। पता नहीं यह कहाँतक ठीक है। जन-जसवंतजीकी जो कविताएँ मिली हैं, सभी हिंदीमें हैं, यद्यपि छन्दकी दृष्टिसे [illegible] उठावेंगे, ऐसी आशा है।—(सं०)

आयुर्वेदविज्ञान एवं आचार-रसायन

(पं० श्रीवासुदेवजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य)

पुरुष जिस शास्त्रसे आयुष्यके विषयमें ज्ञान प्राप्त करता है, (फलस्वरूप आयुकी वृद्धि होती है) मुनिवरोंने उसे आयुर्वेद कहा है—

अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेत्ति च।
तस्मान्मुनिवरैरेष आयुर्वेद इति स्मृतः॥

(चरक)

आयुर्वेदके अतिरिक्त विश्वके किसी भी अन्य चिकित्साशास्त्रमें दीर्घजीवन, संयम, सदाचार, रसायनद्वारा वार्धक्य तथा रोग-निवारण, अरिष्ट-विज्ञान आदिका सम्यक् विवेचन नहीं हुआ है। आयुर्वेद केवल चिकित्साशास्त्र ही नहीं, अपितु पूर्ण जीवन-विज्ञान है। आयुर्वेदका मुख्य प्रयोजन महर्षि चरकने इस प्रकार बताया है—

स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनम्।

'स्वस्थ पुरुषके स्वास्थ्यकी रक्षा तथा रोगीके विकारका प्रशमन करना आयुर्वेदका मुख्य प्रयोजन है।' अति प्राचीन कालसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूपसे पृथ्वीके मानवोंकी आयुर्वेदद्वारा सेवा होती आ रही है।

आयुर्वेदका अनादित्व

आयुर्वेद अथर्ववेदका उपवेद है। सृष्टिके प्रारम्भमें प्रजापति ब्रह्माजीने लक्षात्मक श्लोकोंमें लोकोपकारके लिये इसकी रचना की थी, ग्रन्थमें एक हजार अध्याय थे—

इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः।

वेदके समान आयुर्वेदकी परम्परा भी नित्य सनातन एवं अनादि है। पुराकालमें पुरुषोंकी आयु चार सौ वर्षकी होती थी। उनका शरीर स्वस्थ एवं पुष्ट होता था। कालक्रमसे अधर्मका प्रादुर्भाव होनेसे आयु, आरोग्य तथा बलका ह्रास होने लगा और उसी प्रमाणमें सुख-शान्तिका ह्रास होता गया। दीर्घ आयु और चिर आरोग्यकी उपलब्धिके लिये महर्षि चरकने महत्त्वपूर्ण 'आचार-रसायन' की प्रक्रिया निर्दिष्ट की है।

यह रसायन वास्तवमें कोई पेय-ओषधि नहीं है, एक प्रकारकी नियमित आचार-प्रक्रिया है, जो रसायनसे भी अधिक कार्य करती है। यदि व्यक्ति इस आचार-रसायनके अनुसार अपनी दैनिक-चर्या व्यतीत करता है तो दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिके साथ ही स्वस्थ एवं सुखी रहता हुआ धर्माचरणमें सर्वथा सक्षम होता है और सात्त्विक सुख एवं आनन्दका उपभोग कर सकता है।

स्वयं महर्षि चरकने आचार-रसायनकी परिभाषा इस प्रकार की है—

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यतपस्विनम्।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्।
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहंकृतम्।
शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम्॥
गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुंक्ते यो रसायनम्।
रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते॥

'जो व्यक्ति सत्यवादी, अक्रोधी, मद्य तथा मैथुनसे निवृत्त, हिंसारहित अनायास अर्थात् (शारीरिक, मानसिक अधिक श्रमसे रहित), अति शान्त, मृदुभाषी, जप और शुद्धिमें तत्पर, धैर्यशाली, प्रतिदिन दान करनेवाला तथा तपस्वी है, जो देव, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु तथा वृद्धोंके अर्चन (सत्कार) में रत है, नित्य अनृशंसता (अक्रूरता) परायण तथा प्राणिमात्रको दयाकी दृष्टिसे देखता है, जिसका जागरण एवं निद्रा प्रकृतिके अनुकूल है, जो नित्य घृत, दुग्धका सेवन करता और जो देश, काल (परिस्थिति) के प्रभावका ज्ञाता है, युक्तिज्ञ (कौशलसे कार्य करता) है तथा अहंकारशून्य है, जो शास्त्रोंके अनुकूल आचरण करता है, उदार प्रकृतिका है, जिसके मन, बुद्धि और विचार अध्यात्मकी ओर प्रवृत्त हैं, जो जितात्मा, आस्तिक, वृद्धोंका [illegible] रसायनके

इन गुणोंका सेवन करता है तो वह यथोक्त फलोंको प्राप्त करता है। महर्षि चरकका ओषधिरहित यह आचार-रसायन आजके विश्वको आयुर्वेदकी अद्‍भुत एवं अनुपम देन है।

आज परिस्थिति कुछ ऐसी हो गयी है कि जहाँ एक ओर तो जीवनमें चिन्ता, शोक, आयास उत्पन्न करनेवाली विषम समस्याएँ मुँह बाये खड़ी हैं, वहीं दूसरी ओर मनको शान्त करनेमें सहायक हो सके,ऐसी चर्या क्रमशः लुप्त होती जा रही है। न वह प्रातःकालीन ब्राह्म-मुहूर्तमें शय्या-त्याग रह गया है, न प्रातः शुद्ध वायुमें भ्रमण करना। न संध्या रह गयी है, न प्राणायाम रह गया है, न सूर्य-नमस्कार एवं सूर्योपासना ही रह गयी है। न व्रत, न शुद्धता, न वह भूतदया, न वृद्धों तथा अतिथियोंका सम्मान ही रह गया है। प्रायः रह गयी है केवल सतत कार्यव्यग्रता, आतुरता एवं स्वार्थपरायणता। आजके आधुनिक चिकित्सा-वैज्ञानिकोंने भी प्रबल शब्दोंमें कहा है कि इनका प्रभाव हृदय, मस्तिष्क, वृक, अधिवृक्क, अग्न्याशय, रस-रक्तवाहिनी धमनियों तथा पाचनयन्त्रपर पड़ता है। अनेक व्यवसायी, उद्योगपति, रात-दिन प्रैक्टिसमें पड़ा व्यवसायरत चिकित्सक, मालिककी शोषित मनोवृत्तिका शिकार सेवक, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सूखेकी परिस्थितिसे पिसता किसान, भारी कुटुम्बका एकमात्र पालक साधारण गृहस्थ—इन सबको आजकी विषम स्थितिका मूल्य उच्च रक्तचाप, हृदय-दौर्बल्य, यक्ष्मा, मधुमेह, यान्त्रिक शूल, मस्तिष्क-दौर्बल्य आदि रोगोंमें फँसकर अन्तमें सहसा मृत्युके रूपमें चुकाना पड़ता है। भारतीय वाङ्मयमें तथा आयुर्वेदमें मनःसमाधि (मानसिक शान्ति) का महत्त्व इसी कारण स्थान-स्थानपर वर्णित किया गया है। इसी मानसिक शान्तिको लक्ष्यकर महर्षि चरकने स्पष्ट कहा है—

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयो श्रेयो मोक्षे च यत्परम्।
मनःसमाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्॥

इस लोकमें (वर्तमान समयमें) मरणके अनन्तर जन्मान्तरमें इतना ही नहीं (मोक्ष) अपवर्गमें प्राणिमात्रको जो कल्याण उपलब्ध होता है, वह सब मनःसमाधिसे प्राप्त होता है। अतः यह मानसिक शान्ति केवल उपर्युक्त आचार-रसायनके जीवन-चर्यामें रहनेसे प्राप्त होता है। आजके विश्व-मानवके लिये आयुर्वेदकी यह देन बड़े महत्त्वकी है। आयुर्वेदने शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक रोगोंका मूल कारण प्रज्ञापराध माना है—'**प्रज्ञापराधः प्रधानं रोगाणाम्**' (चरक)।

श्रीमद्भगवद्गीताकी उपयोगिता

मुख्य प्रश्न जो अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा और सो भी कई बार, वह यह था—'मेरा निश्चित कल्याण किसमें है? मुझे एक निश्चित राय बताइये, जिससे मैं कल्याण प्राप्त कर सकूँ।' अतः मालूम होता है कि गीताका मुख्य विषय यह है—मानव-जातिका सबसे अधिक कल्याण किस बातमें है और वह किस तरह प्राप्त हो सकता है? संक्षेपमें भगवान् श्रीकृष्ण हमें बतलाते हैं कि मोक्ष (अर्थात् जीवात्माका जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूट जाना) ही मनुष्यके लिये सबसे बड़ा कल्याण है और वह निष्काम (फलकी इच्छासे रहित) कर्मके अनुष्ठानसे प्राप्त हो सकता है, क्योंकि इस संसारमें हम अपने ही कर्मोंका फल भोगनेके लिये बार-बार जन्म लेते हैं। भगवद्गीता हमें निष्काम कर्मके योग्य बननेके साधन और उपाय बतलाती है और निष्काम कर्मकी पहली सीढ़ी है—जिस तरहसे भी हो स्वधर्मका पालन करना। कोई भी समाज, यदि उसके अङ्गभूत व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते, जीवित नहीं रह सकता और न कोई व्यक्ति ही उन्नति कर सकता है, न फल-फूल सकता है और न सुखी हो सकता है, यदि वह अपने विहित कर्मका त्याग कर देता है। अतः मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये भगवद्गीता परम उपयोगी ग्रन्थ है। इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि लोग उसके आशयको भलीभाँति समझें और उसका जगत्में अधिकाधिक प्रचार हो।—श्रीश्यामाचरण दे

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें योग और भोग

प्रभुणा सह सम्बन्धो जीवानां योग उच्यते ।
प्रकृत्या कृतसम्बन्धः प्राणिनां भोग इष्यते ॥

जीवका परमात्माके साथ जो स्वतःसिद्ध सम्बन्ध है, वह 'योग' है और वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि प्राकृत वस्तुओंके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, वह 'भोग' है। संसारके रागका त्याग होनेसे 'योग' होता है और संसारमें राग होनेसे 'भोग' होता है। योग नित्य और भोग अनित्य है।

भोजन केवल निर्वाहबुद्धिसे किया जाय, भोजनके पदार्थोंमें राग न हो, खिंचाव न हो तो ऐसे भोजनसे भी 'योग' हो जाता है। परंतु शरीर पुष्ट हो जाय, बल अधिक हो जाय—इस दृष्टिसे तथा स्वादकी दृष्टिसे भोजन करनेसे, भोजनका रस लेनेसे 'भोग' होता है। तात्पर्य है कि राग-रहित होकर, निर्लिप्ततापूर्वक भोजन करनेसे पुराना राग मिट जाता है और स्वादबुद्धि, सुखबुद्धि न होनेसे नया राग पैदा नहीं होता, जिससे 'योग' हो जाता है। रागपूर्वक भोजन करनेसे पुराना राग पुष्ट होता रहता है और स्वादबुद्धि, सुखबुद्धि होनेसे नया राग पैदा होता रहता है, जिससे 'भोग' होता है।

सांसारिक वस्तु, पदार्थ आदिके रागके त्यागसे जो सुख होता है, उससे योग होता है (१२ । १२) और भोगमें जो तात्कालिक सुख होता है, उससे बन्धन होता है (१८ । ३८)।

एक कहावत है—'एक गुणा दान, सहस्रगुणा पुण्य।' फलकी इच्छासे एक रुपया दान किया जाय तो हजारगुणा पुण्य होता है अर्थात् हजार रुपयोंके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। अतः ऐसा दान सम्बन्धजन्य भोग पैदा करता है। तात्पर्य है कि सकामभावपूर्वक दिये हुए दानसे वर्तमानमें वस्तु आदिका तात्कालिक सम्बन्ध-विच्छेद दीखनेपर भी परिणाममें वस्तु आदिका सम्बन्ध बना रहता है (२ । ४२-४४)। दान देना कर्तव्य है—इस भावसे, प्रत्युपकारकी भावनासे रहित होकर अर्थात् निष्कामभावपूर्वक दान दिया जाय तो वस्तु आदिसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है (१७ । २०); क्योंकि यह त्याग है। त्यागका अनन्तगुणा पुण्य होता है। त्यागसे महान् पवित्रता आती है। त्यागसे तत्काल योग होता है (६ । २३)। योगमें संसारका वियोग है (६ । २३) और भोगमें संसारका योग है (५ । २२)।

दूसरोंको निष्कामभावसे सुख पहुँचानेके लिये, उनका हित करनेके लिये ही उनके साथ जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उससे 'योग' होता है; क्योंकि उससे अपने राग, सुख, आराम आदिका त्याग होता है। परंतु किसी वस्तु, व्यक्तिसे सुख लेनेके लिये उसके साथ जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है, उससे 'भोग' होता है। वस्तु, व्यक्तिसे रागपूर्वक सम्बन्ध जोड़नेसे परमात्माके नित्य-सम्बन्धका अनुभव नहीं होता।

वस्तु, व्यक्तिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर एक सुख होता है। अगर साधक उस सुखका भोग न करे तो 'योग' हो जायगा। अगर वह उस सुखका भोग करेगा, उस सुखमें राजी हो जायगा तो योग नहीं होगा, प्रत्युत 'भोग' हो जायगा।

अगर साधक भोगबुद्धिका सर्वथा त्याग कर दे तो सभी साधनोंसे 'योग' (परमात्माके नित्य-सम्बन्धका अनुभव) हो जाता है। जैसे—कर्मयोगमें केवल सृष्टिचक्रकी मर्यादाको सुरक्षित रखनेके लिये, केवल कर्तव्य-परम्पराकी रक्षाके लिये ही निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह केवल संसारकी तरफ हो जाता है और स्वयंका कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर, भोगका त्याग होकर परमात्माके साथ योग हो जाता है (४ । २३)।

ज्ञानयोगमें सत्-असत्के विवेक-विचारसे, वस्तु, व्यक्ति क्रिया आदि परिवर्तनशीलसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, जिससे परमात्माके साथ योग हो जाता है अर्थात् परमात्माके साथ अपनी स्वतःसिद्ध अभिन्नताका अनुभव हो जाता है (१३ । २३, ३४)।

भक्तियोगमें सम्पूर्ण क्रिया, पदार्थ आदिको भगवान्का ही समझकर भगवान्को अर्पित किया जाता है, जिससे उन क्रिया, पदार्थ आदिसे सम्बन्ध-विच्छेद होकर भगवान्के साथ योग हो

जाता है अर्थात् भगवान्में आत्मीयता हो जाती है (९ । २७-२८)।

ध्यानयोगमें निरन्तर परमात्मामें मन लगाते-लगाते जब मन संसारसे सर्वथा उपराम हो जाता है, केवल ध्येय वस्तु रह जाती है, तब परमात्माके साथ योग हो जाता है, अपने स्वरूपका अनुभव हो जाता है (६ । २०, २८)।

अष्टाङ्गयोगमें क्रमशः यम, नियम आदि आठों अङ्गोंका निष्कामभावपूर्वक पालन किया जाय तो उससे संसारके सम्बन्धका त्याग हो जाता है और परमात्माके साथ योग हो जाता है (५ । २७-२८)। परंतु उसमें साधकको विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि कहीं वह सिद्धियोंमें न फँस जाय। अगर वह सिद्धियोंमें फँस जायगा तो भोग होगा, योग नहीं होगा।

तात्पर्य यह है कि किसी भी मार्गसे चलनेवाले साधकको व्यवहार-अवस्थामें अथवा साधन-अवस्थामें हरदम सावधान रहना चाहिये। उसको किसी भी अवस्थामें वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ, योग्यता, स्थिरता आदिका सुख नहीं लेना चाहिये; क्योंकि सुख लेनेसे भोग हो जायगा, योग नहीं होगा (१४ । ६)।

सात्त्विक सुख सङ्गसे, राजस सुख कर्मोंकी आसक्तिसे और तामस सुख निद्रा, आलस्य एवं प्रमादसे बाँधता है (१४ । ६-८)। अतः साधक सावधानीपूर्वक सात्त्विक, राजस और तामस सुखसे बँधे नहीं, उसका सङ्ग न करे, तो फिर उसका परमात्माके साथ योग हो जायगा।

ईश्वर-प्रार्थनापर महात्मा गाँधीजीके उद्गार

ईश्वर-प्रार्थनाने मेरी रक्षा की। प्रार्थनाके आश्रय बिना मैं कबका पागल हो गया होता। अन्य मनुष्योंकी भाँति मुझे भी अपने सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवनमें अनेक कटु अनुभव प्राप्त हुए। उनके कारण मेरे भीतर कुछ समयके लिये एक प्रकारकी निराशाको दूर करनेके लिये मुझे कुछ सफलता हुई, तो वह प्रार्थनाके ही कारण हो सकी। सत्यकी भाँति प्रार्थना मेरे जीवनका अङ्ग बनकर नहीं रही है। इसका आश्रय तो मुझे आवश्यकतावश लेना पड़ा। मेरी ऐसी अवस्था हो गयी कि मुझे प्रार्थनाके बिना चैन पड़ना कठिन हो गया। ईश्वरमें मेरा विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, प्रार्थनाके लिये मेरी व्याकुलता भी उतनी ही दुर्दमनीय हो गयी। प्रार्थनाके बिना मुझे जीवन नीरस एवं शून्य-सा प्रतीत होने लगा।

जब मैं दक्षिणी अफ्रीकामें था, उस समय मैं कई बार ईसाइयोंकी सामुदायिक प्रार्थनामें सम्मिलित हुआ, परंतु उसका मुझपर प्रभाव नहीं पड़ा। मेरे ईसाई मित्र ईश्वरके सामने अनुनय-विनय करते थे, किंतु वैसा मुझसे नहीं बन पड़ा। मुझे इस कार्यमें बिलकुल असफलता रही। परिणाम यह हुआ कि ईश्वर एवं उनकी प्रार्थनामें मेरा विश्वास उठ गया और जबतक मेरी आस्था परिपक्व न हो गयी, मुझे उसका अभाव बिलकुल नहीं खला, परंतु अवस्था ढल जानेपर एक समय ऐसा आया, जब मेरी आत्माके लिये प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य हो गयी, जितना शरीरके लिये भोजन अनिवार्य है। सच पूछिये तो शरीरके लिये भोजन भी उतना आवश्यक नहीं है, जितनी आत्माके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता है, शरीरको स्वस्थ रखनेमें कभी-कभी उपवास आवश्यक हो जाता है, किंतु प्रार्थनारूप भोजनका त्याग किसी प्रकार भी हितकर अथवा वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। प्रार्थनाकी अजीर्णता तो कभी हो ही नहीं सकती।

··· लोग मेरी आन्तरिक शान्ति देखकर मुझसे ईर्ष्या करने लगते हैं। वह शान्ति मुझे और कहींसे नहीं, ईश्वर-प्रार्थनासे मिली।··· किसीके मनमें ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न करा देना मेरी शक्तिके बाहर है। बुद्धिका अवलम्बन भ्रमजनक होता है, क्योंकि तर्कपूर्ण युक्तियोंसे चैतन्यरूप ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न नहीं कराया जा सकता। ईश्वर बुद्धिजन्य वस्तु नहीं हैं, वे बुद्धिसे अतीत हैं। यदि एक बार आपने ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार कर लिया तो फिर आपसे प्रार्थना किये बिना रहा नहीं जायगा। यह ठीक है कि ईश्वर यह नहीं चाहते कि हम प्रतिदिन अपनी शरणागतिका उनके सामने हवाला दें, किंतु हमारे लिये ऐसा करना आवश्यक है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हम ऐसा करेंगे, तो फिर कोई भी दुःख हमें नहीं सतायेगा।

(संकलित)

साधनोपयोगी पत्र

[परमार्थ-पत्रावली]

(१)

अब आपकी क्या इच्छा है? आपको किस बातकी आवश्यकता है? आपको तो अब केवल अपने कल्याणके लिये ही चेष्टा करनी चाहिये। मान-अपमानके बोझ-भारको अलग छोड़कर जिस कामके लिये आपका संसारमें आना हुआ है, उस कामको ही करनेके लिये तत्पर हो जाना चाहिये और विचारना चाहिये कि क्या करनेसे कल्याण हो सकता है? मैं जो कुछ करता हूँ इससे कितने समयमें कल्याण हो सकता है? जो इस तरहका विचार करता है वही बुद्धिमान् है, परंतु जो ऐसी बात अपने मनमें नहीं लाते, उन्हें पीछे पछताना पड़ेगा। जब आप यहाँसे कूच कर जायँगे, तब इस संसारमें आपका कुछ भी हिस्सा नहीं रह जायगा और न कोई वस्तु आपके काम ही आयेगी। यह शरीर भी आपके काममें नहीं आयेगा। क्योंकि वह आपका नहीं है। उस समय तो एक श्रीनारायणदेवका भजन-ध्यान ही, यदि साधन किया गया होगा तो काममें आयेगा या यदि उत्तम काममें आपने कुछ रुपये भगवदर्थ लगाये होंगे अथवा इस शरीरसे किसीका उपकार किया गया होगा तो वह काममें आयेगा। इसलिये आपसे प्रार्थना है—अब तो आप अपने जीवनके शेष समयको उत्तम-से-उत्तम काममें बिता सकें, ऐसी आपको चेष्टा करनी चाहिये, जिससे पीछे पश्चात्ताप नहीं करना पड़े। आप इस समय संसारके जालमें फँसे हुए हैं, इसलिये साधनकी विशेष चेष्टा करके इस संसारके मायाजालसे जल्दी निकलनेका उपाय करना चाहिये।

(२)

सत्सङ्गका प्रभाव जान लेना चाहिये, फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं है। इस संसारमें पलभरके सत्सङ्गके समान त्रिलोकीका राज्य भी कोई चीज नहीं है। किंतु खेद तो यह है कि आपलोग जिस प्रकार रुपयोंका प्रभाव जानते हैं वैसा सत्सङ्गका नहीं जानते, क्योंकि जैसा आपलोगोंका रुपयोंमें प्रेम है, वैसा भगवान्में नहीं है। फिर श्रीपरमात्मदेव प्रेम हुए बिना सत्सङ्ग-भजनमें कैसे प्रेम हो? आपलोग समझते हैं, रुपयोंसे सब कुछ हो सकता है, यह बिलकुल भूल है। रुपयोंसे भगवान् कभी नहीं मिल सकते। भगवान्की बात तो दूर रही, भगवान्के प्रेमी भक्तोंसे भी रुपयोंके द्वारा मुलाकात नहीं हो सकती। यदि मुलाकात होती है तो प्रेमसे ही होती है। प्रेमके अधीन तो श्रीनारायणदेव स्वयं रहते हैं, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है? संसारमें प्रेमके समान कुछ भी नहीं है, किंतु प्रेमके प्रभाव और मर्मको कोई प्रेमी ही जानता है। भगवद्विषयक प्रेममें बहुत आकर्षणशक्ति है, किंतु एक बार लगनेकी आवश्यकता है। जबतक मनुष्य भगवान्के प्रभावको, श्रीनारायणदेवके प्रेमके मर्मको नहीं जानता है, तबतक वह कैसे जान सकता है कि भगवान् क्या वस्तु है? श्रीनारायणदेवके प्रेममें जो मग्न हो जाता है, उसके लिये तो नारायणदेव स्वयं तैयार रहते हैं, फिर उसके लिये त्रिलोकीका राज्य भी क्या चीज है? क्योंकि त्रिलोकीके स्वामी ही प्रेमवश उसके सामने हाजिर हैं। अपने भक्तके अधीन हैं। फिर उसके लिये क्या पानेसे बाकी रह गया? भाई! इस प्रकारकी बातोंको जानकर यदि विश्वास कर लिया जाय तो फिर इस काममें अपनेको लगा देनेमें कोई बड़ी बात नहीं मालूम पड़ेगी और संसारके रुपयोंका रोजगार बेकार मालूम होने लग जायगा। भले ही कोई नीतिके अनुसार संसारका रोजगार करता भी रहे, किंतु प्रेम तो उसका एकमात्र भगवान्में ही होना चाहिये। भगवत्प्रेमीका भले ही सब कुछ नाश हो जाय, परंतु उसे इस बातकी चिन्ता नहीं होती, क्योंकि उसका प्रेम तो संसारके इन नाशवान् तुच्छ क्षणभङ्गुर पदार्थोंमें होता नहीं, उसे तो ये सब प्रत्यक्ष ही नाश हुए दीखते हैं। तब उसका इनमें प्रेम कैसे हो? जो संसारके भोगोंमें आनन्द मानकर उनके लिये मर रहे हैं, वे महामूर्ख हैं, ऐसा भगवान्के भक्त और विरक्तलोग कहते हैं, क्योंकि उन्हें तो संसारके सब भोग फीके ही लगते हैं।

(३)

भगवान्‌के भजन-ध्यान करते समय अपने चित्तमें विक्षेपका होना लिखा सो ठीक है। वह विक्षेप नामके जपका तीव्र अभ्यास और विषयोंमें दोषदृष्टि करके वैराग्य करनेसे मिट सकता है, क्योंकि शरीर और रुपयोंकी आसक्ति ही विक्षेप होनेमें प्रधान कारण है। शरीर और रुपये नाशवान् पदार्थ हैं, ऐसा बार-बार विचार करनेपर चित्त परमात्मामें लग सकता है। संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको और शरीरको नाशवान् तथा क्षणभङ्गुर समझना चाहिये। भजन-ध्यानके लिये आपने फिर जोरसे चेष्टा करनेकी बात लिखी सो बहुत आनन्दकी बात है। आप-जैसे समझदार व्यक्तिको स्त्री, पुत्र, शरीर और रुपयोंमें फँसकर अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी वृथा नहीं गँवाना चाहिये; क्योंकि ये सब अनित्य होनेके कारण वास्तवमें तो हैं ही नहीं, यदि हैं भी तो विवेकदृष्टिसे दुःखरूप ही हैं। परमात्माकी प्राप्तिमें ये सब साधक नहीं हैं, प्रत्युत बाधक ही हैं। किंतु ये सब ईश्वरमें लगा देनेपर साधक भी हो सकते हैं। परंतु सबसे ऐसा होना सहज नहीं। स्त्री, पुत्र, धनकी तो बात ही क्या है, शरीर भी अपने साथ जानेवाली वस्तु नहीं है, इस प्रकारका विचार करके जो मनुष्य इनसे प्रेम नहीं करता, वही सुखी होता है। मनुष्य जब सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें मुग्ध हो जाता है, तब उस समय उसे त्रिलोकीका राज्य भी तुच्छ प्रतीत होता है। किंतु इसे जानकर भी मनुष्य इन तुच्छ भोगोंमें फँस जाते हैं, यह बड़े आश्चर्यकी बात है।

अच्छे पुरुषोंका सत्सङ्ग मिलनेपर साधन तेज हो सकनेकी बात आपने लिखी, सो ठीक है। यद्यपि अच्छे पुरुषोंका सत्सङ्ग बड़े भाग्यसे मिलता है, किंतु चेष्टा करनेसे आपके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। समय और रुपयोंकी कोई परवा न हो, तब तो अच्छे पुरुषोंसे बहुत बार मिलना हो सकता है। इसके लिये आप विशेष चेष्टा क्यों नहीं करते हैं? केवल युक्तियोंसे बहुत-सी बातें समझमें नहीं आतीं। इसलिये आपको इस विषयमें विचार करना चाहिये। आप तुच्छ धनके लिये समय और धनका व्यय करके तो दूर-दूरकी यात्रा करते हैं तथा शारीरिक परिश्रम उठाते हैं, किंतु विज्ञानानन्दघन परमात्माके ध्यानरूपी धनके लिये आप क्यों नहीं यथोचित परिश्रम करते? यह बात समझमें नहीं आती। यदि इसका हेतु मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा है तो आपको विचार करना चाहिये कि वह मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा हमारे किस काम आयेगी? यदि शरीरके परिश्रमकी कोई बात हो तो फिर शरीर है ही किस लिये? यदि अज्ञान हेतु है तो उसे विवेक-विचारके द्वारा नाश करना चाहिये, नहीं तो बहुत भारी पश्चात्तापका सामना करना पड़ेगा। यदि रुपयोंकी हानि या व्यय इसमें कारण हों तो विचार करना चाहिये, फिर वे इकट्ठे किये हुए रुपये आपके किस काम आयेंगे। यदि कुटुम्ब या व्यापार आदिकी सुव्यवस्था करनेके कारण सत्सङ्गमें जाना नहीं होता, तब तो आपको विचार करना चाहिये कि इन सबसे बढ़कर जो आपका प्रधान कार्य है, उसकी सुव्यवस्था क्या आपको नहीं करनी है? जगह, जमीन, मुकदमा, मकान, कुटुम्ब आदिकी सुव्यवस्था तो आपके परलोक सिधारनेके बाद भी आपके उत्तराधिकारी कर सकते हैं, किंतु आपकी सुव्यवस्था आपके परलोक सिधारनेके बाद आपको छोड़कर और किसीसे होनेकी नहीं है। अतएव जबतक शरीर आरोग्य है और मृत्यु दूर है, इसी समय आपको जो करना है उसे अति शीघ्रतासे अपनी आत्माके कल्याणके लिये जोरोंके साथ चेष्टा करनी चाहिये।

(४)

तुमने लिखा 'मेरा चित्त बहुत व्याकुल है। दशा बहुत खराब है। ऐसी दशा कभी नहीं हुई। आगे क्या दशा होगी, कुछ समझमें नहीं आता।' सो भैया! जो हुआ सो तो हो चुका। अब तो चेतना चाहिये। अब तो तुम इस बातको भलीभाँति जान ही गये कि सत्संगके बिना भजन-ध्यान होना कठिन है और भजन-ध्यान हुए बिना दशा बिगड़ जाती है। अतएव अब तुम्हें भजन-ध्यान-सत्संगके लिये ही चेष्टा करनी चाहिये। सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय भी एक तरहसे सत्संग ही है। अतएव जबतक सत्संगकी व्यवस्था न हो, तबतक सद्ग्रन्थोंका अभ्यास करना चाहिये।

अमृत-बिन्दु

हमारा सम्मान हो—इस चाहनाने ही हमारा अपमान किया है।

× × × ×

हमारा शरीर तो संसारमें है, पर हम स्वयं भगवान्‌में ही हैं।

× × × ×

मुक्ति वस्तुके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत इच्छाके त्यागसे होती है।

× × × ×

ममतारहित पुरुष दुनियाका जितना भला कर सकता है, उतना ममतावाला कर ही नहीं सकता।

× × × ×

व्यक्तियोंकी सेवा करनी है और वस्तुओंका सदुपयोग करना है।

× × × ×

जो हम चाहते हैं, वह होता नहीं; जो होता है, वह हमें भाता नहीं और जो हमें भाता है, वह रहता नहीं—यह सबका अनुभव है। इस अनुभवको महत्त्व दें अर्थात् चाहनाका त्याग कर दें।

× × × ×

भगवान्‌के लिये अपनी मनचाही छोड़ देना ही शरणागति है।

× × × ×

परमात्माकी प्राप्तिमें देरी नहीं लगती। देरी लगती है सम्बन्धजन्य सुखकी इच्छाका त्याग करनेमें।

× × × ×

संसारकी सामग्री संसारके कामकी है, अपने कामकी नहीं।

× × × ×

संसारसे कुछ भी चाहोगे तो दुःख पाना ही पड़ेगा।

× × × ×

वस्तुका सबसे बढ़िया उपयोग है—उसको दूसरेके हितमें लगाना।

× × × ×

मनुष्यका उत्थान और पतन भावसे होता है, वस्तु, परिस्थिति आदिसे नहीं।

× × × ×

न तो किसी वस्तुको अपना और अपने लिये मानना चाहिये और न किसी वस्तुकी कामना करनी चाहिये; क्योंकि वस्तुको अपना माननेसे अशुद्धि आती है और कामना करनेसे अशान्ति आती है।

× × × ×

आनेवाला जानेवाला होता है—यह नियम है।

× × × ×

निन्दा इसलिये बुरी लगती है कि हम प्रशंसा चाहते हैं। हम प्रशंसा चाहते हैं तो वास्तवमें हम प्रशंसाके योग्य नहीं हैं; क्योंकि जो प्रशंसाके योग्य होता है, उसमें प्रशंसाकी चाहना नहीं रहती।

× × × ×

वस्तुको दूसरेके हितमें लगाना उसका सदुपयोग है और अपने [illegible] दुरुपयोग है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कर्तव्यका पालन

श्रीआशुतोष मुखर्जी उन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालयके कुलपति थे, साथ-साथ कलकत्ता उच्च न्यायालयके न्यायाधीश भी थे। उच्च पदपर आसीन रहनेके बावजूद उन्हें अंग्रेजियत छू नहीं पायी थी। वे नियमितरूपसे गङ्गा-स्नान एवं धार्मिक कृत्योंमें रत रहते। एक दिन वे गङ्गा-स्नानसे लौट रहे थे। कंधेपर अंगोछा और हाथमें गङ्गा-जलसे भरा लोटा था। मार्गमें उन्होंने देखा कि एक गरीब बुढ़िया उदास बैठी है। उसके चेहरेपर दुःख और उदासी स्पष्ट झलक रही थी।

'माँ ! क्या बात है ? आप किस शोकमें डूबी हुई हैं ?' श्रीमुखर्जीने उस वृद्धासे सहानुभूतिपूर्वक पूछा।

'बेटा ! आज मुझे अपने पतिका श्राद्ध करना है। समय निकला जा रहा है। कोई भी ब्राह्मण नहीं मिल रहा है, जो कर्मकाण्ड कराकर पतिदेवकी आत्माको तृप्त करे।' वृद्धाने अपनी उदासीका कारण बतलाते हुए यह बात कही। क्षणभरके लिये आशुतोष बाबू मौन हो गये और मनमें कुछ विचार करने लगे, फिर बोले—

'चलो, मैं कराता हूँ।' यह कहकर श्रीआशुतोष बाबू वृद्धाके साथ उसके घर गये। नियमानुसार पूर्ण विधिके साथ धार्मिक क्रिया सम्पन्न करायी, दक्षिणाके रूपमें गुड़की एक-दो डली तथा चावलोंसे भरा दोना लेकर वे घर वापस चल दिये।

मार्गमें जब लोगोंने मुख्य न्यायाधीशको एक हाथमें गङ्गाजलका लोटा और दूसरेमें श्राद्ध करानेमें मिली दक्षिणासे भरा दोना लिये जाते देखा तब कुछ लोग आश्चर्यचकित हो गये।

एक परिचित व्यक्तिने जब उनसे आश्चर्यसे पूछा, तो श्रीआशुतोष बाबूने गम्भीरता और गर्वसे उत्तर दिया—'मैं न्यायाधीश हूँ तो क्या हुआ, अपने ब्राह्मणत्वको और स्वकर्मको तिलाञ्जलि कैसे दे सकता हूँ ? निस्सहाय वृद्धाके पतिका श्राद्ध कराकर मैंने अपने ब्राह्मण-धर्म और कर्तव्यका ही पालन किया है।'

श्रीआशुतोष बाबू आजन्म भारतीय परम्पराओं एवं भारतीयतापर गर्व रखते थे। उनकी विद्वत्तासे प्रभावित होकर सरकारने उन्हें इंगलैंड भेजनेकी व्यवस्था की थी और तदनुसार उन्हें निमन्त्रण भी दिया था। उन दिनों विदेश जाना एक नयी बात थी।

श्रीआशुतोष मुखर्जी इंगलैंड तो जाना चाहते थे, परंतु माताकी अनुमतिके बाद ही। जैसी कि उन्हें आशंका थी, उनकी माताजीने उन्हें विदेश जानेकी अनुमति नहीं दी। श्रीआशुतोष बाबूने माताके आदेशको सहर्ष स्वीकार किया और सरकारको स्पष्ट उत्तर भेज दिया—'मेरी माताजी मुझे विदेश जानेकी अनुमति नहीं दे रही हैं, अतः मैं आपका निमन्त्रण स्वीकार करनेमें असमर्थ हूँ।

उनका यह उत्तर-पत्र तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जनको दिखाया गया। पत्र पढ़कर वायसरायको महान् आश्चर्य हुआ और क्रोध भी आया। उन्होंने सर आशुतोष मुखर्जीको प्रत्यक्ष भेंट करनेके लिये बुलाया और जब वह मिलने आये तो कहा—'अपनी मातासे कहो, वायसरायने मुझे इंगलैंड जानेका आदेश दिया है। जाना ही पड़ेगा।'

श्रीआशुतोष मुखर्जी वायसरायके कठोर स्वभावसे परिचित थे, परंतु माताकी आज्ञाके विरुद्ध जाना भी उनका स्वभाव नहीं था। उन्होंने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'महोदय ! मैं अपनी माताकी आज्ञाके विरुद्ध किसी भी स्थितिमें विदेश नहीं जा सकता।' **'मातृदेवो भव'**—भारतीय संस्कृतिकी इस उदात्त भावनासे श्रीआशुतोष मुखर्जीका रग-रग भरा था। उन्होंने स्पष्टरूपसे अपना निवेदन भेजा—'मुझपर कोई निर्णय बलपूर्वक थोपनेकी चेष्टा न की जाय। मैं अपनी माताकी इच्छाके विरुद्ध कोई कार्य करनेमें समर्थ नहीं हूँ।' यह जानकर लार्ड कर्जन क्षणभरके लिये तो स्तब्ध हुए। उन्हें स्वप्नमें भी यह अनुमान नहीं था कि सर आशुतोष मुखर्जी उनकी बात टालेंगे। पर वे रोमाञ्चित हो उठे और उन्होंने सर आशुतोष मुखर्जीकी मुक्तकण्ठसे सराहना की और कहा कि जबतक भारतमें ऐसे सपूत रहेंगे, तबतक यहाँकी संस्कृतिको कोई मिटा नहीं सकता।

(२)
सद्विचारसे दीर्घ द्वेषका अन्त

छगन पटेलका उसके पड़ोसीके साथ वर्षोंसे वैर चलता आ रहा था। पशु एक-दूसरेके खेतमें घुसकर फसल बरबाद करते, बाड़ आगे-पीछे होती रहती और झगड़ा चलता रहता। थोड़ा भी मेल-जोल नहीं। गाँवके लोगोंने समाधानके लिये प्रयत्न किया, परंतु निष्फलता ही मिली। दोनों पड़ोसी एक-दूसरेको किसी षड्यन्त्र आदिमें फँसानेका प्रयत्न करते रहते।

गर्मीके दिनोंमें लू बरसती एक दोपहरीमें छगन पटेल खेतोंका चक्कर लगाने निकला, खेतमें घुसते ही उसने देखा कि उसके पुराने वैरी तथा पड़ोसीकी स्त्रीने उसके आमके वृक्षोंपरसे कच्चे आम तोड़कर बहुत बड़ा एक टोकरा भर लिया है। उसने भी छगन पटेलको आते देखा और समझ लिया कि 'चोरी करते रँगे हाथ मालसहित मैं पकड़ी गयी।' इसलिये वह चुपचाप खड़ी हो गयी।

पटेलने विचार किया कि अच्छा दाँव हाथ लगा है। चोरीका केस चलाकर जन्मसे चली आ रही इस वैर-भावनाका बदला मैं चुका डालूँ, परंतु दूसरे ही क्षण उसके मनमें एक दूसरा ही विचार आ गया। टोकरेके समीप जाकर उसने उस स्त्रीसे कहा—'इतने अधिक आम तुम कैसे उठा सकोगी। लाओ मैं उठवा दूँ।' ऐसा कहकर चुपचाप उसने टोकरा उठवानेमें उसकी सहायता की। स्त्री चुपचाप टोकरा लेकर घर चली गयी।

दूसरे ही दिन पड़ोसीने बिना कुछ कहे-सुने अपने खेतकी बाड़ पीछे ले ली और वर्षोंके झगड़ेका निराकरण होते ही दोनोंके सम्बन्ध सुधर गये।

उस समय छगन पटेलके मनमें यही भाव आया कि यदि आमोंकी चोरीका अभियोग चलाया जायगा तो यह वैर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहेगा, मात्र दो रुपयेके आमोंके कारण हमलोगोंको कचहरी एवं वकीलोंके घर चक्कर लगाने पड़ेंगे। जो हुआ, सो अच्छा ही हुआ। वैर तो बढ़ानेसे बढ़ता है, घटानेसे घटता है।

छगन पटे[illegible] है और इसीमें सच्चा कल्याण निहित है।—दीनानाथ सी० व्यास

(३)
दयाकी मूर्ति

एक गाँवके किनारे वृद्धा जीवकोर माँकी झोपड़ी थी। उसमें वह अकेली ही रहती थीं, उसके आगे-पीछे कोई नहीं था। फिर भी उसका जीवन प्रसन्न था। वह एक छोटी-सी क्यारीमें साग-भाजी बो देती, उससे खानेभरको शाकादि मिल जाता। एक खेत था, उसमेंसे बारह महीनेकी रोटीके लिये अन्न भी प्राप्त हो जाता। इतना मिल जाना वह अपने लिये पर्याप्त मानती थी।

दोनों समयके लिये वह एक ही बार भोजन तैयार कर लेती और अन्तिम पहरमें ब्यालू करके निश्चिन्त होकर स्वच्छ गोबरसे लिपे चबूतरेपर बैठकर दिया-बत्ती करती रहती। मन्दिर आने-जानेवाले लोग उससे पूछते—'जीवकोर माँ! आरतीमें नहीं आना है क्या?' वह तुरंत उत्तर देती—'भैया! हमारे लिये तो मथुरा और काशी यहीं है।' इतना कहकर वह फिर दिया-बत्ती करनेमें लग जाती।

परंतु जीवकोर माँके बारहमासी जीवनमें गर्मीके दिन स्मरण रखने योग्य हैं। माघ महीना जब पूरा होनेको होता तब वृद्धा माँ कुम्हारके घर पहुँचती और ठोक-पीटकर, ठीकसे देखकर बड़े-बड़े दो घड़े अलग रखा लेती। कुम्हार भी इस ग्राहकको पहचान गया था। घड़ा थोड़ा भी कमजोर होता तो कहता—'माँ! यह आपके कामका नहीं है। इसे किसी अन्य ग्राहकको दे दिया जायगा।' वृद्धा हँसते-हँसते दो अच्छे पके घड़े लेकर अपनी झोपड़ीपर वापस आ जाती।

चैत्र महीनेकी गरम-गरम लू प्रारम्भ होते ही वृद्धा माँ दोनों घड़े लेकर गाँवके किनारे एक वटवृक्षके नीचे एक स्थानपर रख देती। वटके समीप ही एक छोटा-सा कुँआ था। बाल्टी तथा रस्सी ले जाकर शामको दोनों घड़े मुँहतक जलसे भरकर उन्हें चारों ओरसे गीले कपड़ेसे ढँक दिया करती। प्रातःकाल होते-होते पानीका स्वाद अमृत-जैसा हो जाता। धीरे-धीरे भगवान् सूर्यनारायण जब मध्याकाशमें आने लगते तो आने-जानेवाले पथिक भी वहाँ इकट्ठे होने लगते। शहर जानेवाले गाड़ीवान भी गाड़ियोंके बैलोंको खोलकर वहाँ विश्राम करते। साग-भाजी बेचने जानेवाली [illegible] भी अपने सिरका बोझ उतारकर रख देतीं और शान्तिसे वहाँ

बैठतीं। जंगलसे काट-काटकर लकड़ी ले जानेवाले मजदूर भी वहाँ दोपहरीमें आराम करते। सभी लोग जीवकोर माँके रखे हुए उन घड़ोंका अमृतमय शीतल जल पीकर अपनी प्यास शान्त करके लाखों-लाख दुआएँ देते। आने-जानेवाले सैकड़ों यात्री वृद्धा माँकी इस जीवनप्रद प्याऊसे अपनी प्यास शान्त करते।

अनेक यात्रियोंकी प्यासको शान्त करनेवाली वे जीवकोर माँ तो अब उस अनन्तकी यात्रापर चली गयी हैं, परंतु चबूतरेपर रखे हुए उनके जीवनसाथी वे घड़े और वह घनी छायावाला वटवृक्ष अब भी उन दयाकी मूर्ति जीवकोर माँकी स्मृति दिलाते रहते हैं। —बालमुकुन्द दवे

(४)

स्वावलम्बनकी शिक्षा

खलीफा हारुन अल रशीदकी दयालुता और न्यायप्रियताकी अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। परंतु उनके राज्यमें और भी ऐसे अनेक लोग थे, जो त्यागमय, विनम्रपूर्ण और स्वावलम्बी जीवन बिता रहे थे। इनमेंसे एक थे मदरसा अब्बासियके उस्ताद।

एक बारकी बात है। खलीफा हारुन अल रशीद अपने वजीरके साथ जनताकी तकलीफें सुननेके लिये निकले। जब वे मदरसा अब्बासियके निकटसे गुजरे तो सहसा उन्हें याद आया कि उनके शहजादे भी तो इसी पाठशालामें पढ़ते हैं।

वे वजीरके साथ मदरसेके भीतर गये । देखा, विद्यार्थियोंके उस्ताद अपने हाथोंसे पानी लेकर मुँह धो रहे हैं और दोनों शहजादे उनके पास खड़े हैं। खलीफाको थोड़ा बुरा लगा—यह क्या? शहजादोंको पानी लेकर खड़ा होना चाहिये था।

उन्होंने उस्तादसे कहा—'मैं शहरके मुआयनेपर निकला था। इधरसे गुजरा तो सोचा—'देखूँ, शहजादोंकी तालीम कैसी हो रही है?' पर यहाँ आकर मुझे लगा कि उनकी तालीम अभी पूरी नहीं हुई है।

'कैसे?' वृद्ध उस्तादने पूछा।

'देखिये न, आप-जैसे बुजुर्ग खुद पानी लेकर हाथ-मुँह धो रहे हैं और आपके शागिर्द पासमें खड़े हैं। पानी तो उन्हें उठाकर देना चाहिये था।'

वृद्ध उस्ताद मुस्कराये। फिर कहा—'गुस्ताखी माफ करें। आप-हम सभी चाहते हैं कि बच्चे स्वावलम्बी बनें। दूसरोंपर निर्भर न रहें। जब हम बड़े लोग स्वावलम्बी नहीं बनेंगे, तब बच्चोंसे कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि वे स्वावलम्बी बन सकेंगे? हमें अपने आचरणसे बच्चोंको शिक्षा देनी चाहिये। मैं स्वयं पानी लेकर शहजादोंको स्वावलम्बनकी शिक्षा दे रहा था।' —गोपालदास नागर

(५)

ऋण-मुक्ति

मैं जिस कालेजमें अध्यापक हूँ, उसके निकट एक अस्सी वर्षका बूढ़ा मोची बैठता था। वह सदा प्रसन्न और संतुष्ट दिखायी देता था। एक दिन मैंने अपनी पुत्रीके नये सैंडिल ठीक करने तथा पालिस करनेके लिये उसे दिये। मोचीने पालिस आदि कर उन्हें एक ओर रख दिया था। फिर वह दूसरे जूतोंकी मरम्मतमें इस प्रकार खो गया कि कोई उसकी आँख बचाकर उन्हें चुरा ले गया।

सायंकाल स्कूलकी छुट्टी होनेके पश्चात् जब मैं सैंडिल लेने गया, तब उस मोचीने कहा—'बाबूजी! न जाने कौन मेरी आँख बचाकर आपका सैंडिल उठा ले गया। मैं कुछ दिनोंमें नये सैंडिल बनाकर आपको दे दूँगा।'

इस घटनाके दस दिन पश्चात् सरकारी अस्पतालके जनरल वार्डमें मैं अपने एक मित्रके साथ गया तो वहाँ बीमार पड़े हुए उस मोचीने मुझे पहचान लिया और बुलवाकर कहा—'बाबूजी! ठीक समयपर आपसे भेंट हो गयी। नहीं तो ऋणसे मेरी मौत बिगड़ जाती। अचानक बीमार हो जानेके कारण मैं नये सैंडिल बनाकर तो नहीं दे पाऊँगा, परंतु उसकी कीमत आप ले लें।' ऐसा कहकर उसने अपने बेटेसे मुझे पचीस रुपये देनेके लिये कहा।

मोचीकी दयनीय अवस्था देखकर मैंने उससे कहा—'इन रुपयोंका उपयोग तुम अपनी दवा आदिमें कर लेना।'

मोचीने कहा—'इन रुपयोंसे मेरी जिंदगी बच सकेगी, यह मैं नहीं जानता, परंतु इस ऋणको वापस लौटानेसे मेरी मृत्यु अवश्य सुधर जायगी।' और पासमें बैठे हुए अपने बेटेसे पुनः कहा—'मेरी मृत्युके पश्चात् ऋण लेकर मृत्युभोज करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, [illegible] जन्म-

मरणका बन्धन समाप्त नहीं होगा और मेरे जीवनका लक्ष्य पूरा नहीं हो सकेगा।'

बेटेने बूढ़े बापकी बात माननेका वचन दिया। मैंने देखा, बूढ़ेका मुखमण्डल ऋण-मुक्तिकी भावनाकी तेजस्वितासे चमक रहा था। उसके मुखारविन्दपर एक प्रकारकी संतुष्टि थी और मनमें था आह्लाद। (अखण्ड आनन्द)

(६)

सादगीसे महानता

घटना उन दिनोंकी है, जब महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयके निमित्त धन-संग्रह कर रहे थे। इस धन-संग्रहके कार्यके लिये एक बार वे रंगून गये। वहाँ कई बड़े-बड़े धनवान् सेठ थे, जो मूलतः भारतके ही थे। करोड़ोंका उनका व्यापार था।

ऐसे ही एक करोड़पति धनवान्की हवेलीपर पण्डित मदनमोहन मालवीय पहुँचे। हवेली बड़ी थी, किंतु वहाँ सादगी थी। दरवाजेसे होकर मालवीयजी भीतर गये। कमरेमें एक चारपाई थी। चारपाईपर एक दरी बिछी थी। एक व्यक्ति सामान्य वेश-भूषामें चारपाईपर बैठा था। उसने मालवीयजी-का स्वागत किया। चारपाईपर बैठाया। बैठनेके बाद महामना मालवीयजीने उस व्यक्तिसे पूछा—'क्यों भाई! सेठजी कहाँ हैं? कब मिलेंगे? मैं काशीसे आया हूँ। मेरा नाम मदनमोहन मालवीय है।'

चारपाईपर बैठे व्यक्तिने कहा—'वह गरीब मैं ही हूँ। आपका काशीसे भेजा हुआ पत्र मुझे मिल गया था।' मालवीयजी उनकी सादगी देखकर आश्चर्यचकित रह गये।

हाथ जोड़कर सेठजीने पूछा—'कहिये, क्या आज्ञा है?'

मालवीयजीने कहा—'मैं काशीमें बन रहे एक विशाल हिन्दू-विश्वविद्यालयके लिये कुछ धनराशि प्राप्त करनेकी इच्छासे आपके पास आया हूँ।'

सेठजीने तुरंत अपने मुनीमको बुलवाया। चेक लिखनेके लिये कहा और उसपर हस्ताक्षर कर महामनाजीको दे दिया। उन दिनों रुपयोंका मूल्य आजकी अपेक्षा बहुत अधिक था।

मालवीयजी दूसरी बार आश्चर्यमें डूब गये, जब उन्हें पाँच लाख रुपयोंका चेक बिना किसी विलम्बके तुरंत प्राप्त हो गया।

सेठजीने कहा—'मालवीयजी! आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। मैं जब छोटा था, तब मुझे एक पण्डितजी पढ़ाते थे। उन्होंने मुझे एक सीख दी थी कि 'बेटा! तुम गरीब रहो या धनवान् बन जाओ, लेकिन सादगीसे रहना। ठाट-बाट या दिखावा करनेके लिये एक पाई भी खर्च मत करना।' वह बात मैं भूला नहीं हूँ। इसलिये आज मैं धनवान् बन पाया हूँ। उसमेंसे कुछ अंश विश्वविद्यालयके निर्माणके लिये दे रहा हूँ। आवश्यकता पड़नेपर मैं आगे भी विश्व-विद्यालयकी यथासम्भव सेवा करनेकी इच्छा रखता हूँ।'

महामना मालवीयजी बोल उठे—'धन्य हैं सेठजी आप!'

जिसमें ईमानदारी और सादगी होती है, वही महान् बनता है। ठाट-बाट या दिखावेसे आदमी महान् नहीं बनता। महान् बनता है सादगीसे।
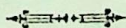
पितामह भीष्मने युधिष्ठिरसे कहा—'माता-पिताकी भक्तिको मैं सबसे श्रेष्ठ धर्म मानता हूँ। तीनों लोक, तीनों आश्रम, तीनों वेद, तीनों अग्नि सब माता-पितामें और उनसे भी बढ़कर गुरुमें मौजूद हैं। जो इन तीनोंकी भक्ति करनेसे नहीं चूकता, वह तीनों लोकोंको जीत लेता है। जिसने इन तीनोंका मान किया, उसने सबका मान किया और जिसने इनका अनादर किया, उसकी सब क्रियाएँ नष्ट हो गयीं।'—महाभारत

'मनुष्योंकी उत्पत्ति और पालन आदिमें माता-पिता जो दुःख सहन करते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा करनेपर भी नहीं दिया जा सकता। अतएव सदा माता-पिता और आचार्यका प्रिय कार्य करना चाहिये। इन तीनोंके संतुष्ट होनेसे सब तप पूरे हो जाते हैं। इन तीनोंकी सेवाका नाम परम तप है। इनकी आज्ञा लेकर दूसरे धर्मोंका आचरण करना चाहिये।'—मनु

मनन करने योग्य

गुण और योग्यता

एक थे सेठजी, उनके तीन पुत्र थे। उन्होंने एक दिन अपने पुत्रोंको बुलाकर कहा—'अब मैं वृद्ध हो गया हूँ। कौन जाने अब कितने दिन जी पाऊँगा। परंतु तुमलोगोंसे एक बात पूछनेकी इच्छा है। बोलो, तुमलोग मुझे कितना चाहते हो ?

सबसे बड़े पुत्रने कहा—'पिताजी ! आपके प्रति मेरा प्रेम समुद्रकी तरह अथाह है। मैं आपको बहुत चाहता हूँ।'

मझले पुत्रने कहा—'पिताजी ! आपके प्रति प्रेमकी तुलना मैं किसी दूसरेसे नहीं कर सकता।'

सबसे छोटेने कहा—'पिताजी ! मैं तो इतना जानता हूँ कि आप मेरे पिता हैं और पिता-पुत्र दोनों एक-दूसरेको अपने प्राणोंसे भी अधिक चाहते हैं।'

तीनों पुत्रोंकी बात सुनकर सेठजी चुप रहे।

कुछ दिनोंके बाद सेठजीने अपने मुनीमको बुलाकर कहा—'मुनीमजी ! अब मैं वृद्ध हो गया। मेरी इच्छा है कि अब मैं तीर्थयात्रा कर लूँ। और मैं कल ही यात्रापर जानेवाला हूँ। मेरी अनुपस्थितिमें गद्दीका काम-काज ठीकसे चले, इसका ध्यान रखियेगा। सेठजी दूसरे ही दिन तीर्थयात्रापर निकल पड़े।

दो-एक महीने बाद समाचार मिला कि सेठजीका रास्तेमें ही स्वर्गवास हो गया। यह समाचार सुनकर पूरा परिवार शोकमें डूब गया।

सेठजीका सारा व्यापार अब लड़कोंकें हाथमें आ गया था। परंतु सेठजीकी इच्छानुसार मुनीमजी गद्दीकी तथा काम-काजकी देख-रेख रखते थे। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया।

एक दिन एक वृद्ध संन्यासी सेठजीके घरके दरवाजेपर आ खड़े हुए। उन्होंने देखा कि एक युवक साधारण अवस्थामें उदास-सा कुछ दूर बैठा है। संन्यासीने उसके पास जाकर पूछा—'बेटा ! तुम इस तरह उदास क्यों बैठे हो ?'

उसने बताया—'महात्माजी ! मेरे पिताजी एक वर्ष पहले तीर्थयात्रापर गये थे। रास्तेमें ही उनका स्वर्गवास हो गया। उन्हींके वियोगसे मैं उदास रहने लगा हूँ। मैं उन्हें भूल नहीं सकता।' और इतना कहनेके बाद उसकी आँखोंमें आँसू भर आये।

उस संन्यासीने पूछा—'तुम्हारे दूसरे भाई हैं ?'

जी हाँ, हम तीन भाई हैं। मझला तो पिताजीके स्वर्गवास होनेके बाद मौज-मस्तीमें खो गया है। पिताजीकी सम्पत्ति उड़ा-खा रहा है। मैं तीनोंमें ज्येष्ठ हूँ, परंतु स्वस्थ न रहनेके कारण सारा काम-काज मेरा सबसे छोटा भाई ही देखता है। वह व्यापारकी देख-रेख परिश्रम और ईमानदारीसे करता है। परंतु मझला उसके कार्यमें प्रायः बाधा डालता है, इस कारण हम दोनोंको उसीकी चिन्ता रहती है।

संन्यासी वहाँसे उठकर सीधे सेठजीकी गद्दीपर पहुँचे।

सेठजीकी कुर्सीपर बैठे एक तेजस्वी युवकने विनम्रतासे संन्यासीकी ओर देखकर पूछा—'महात्माजी ! आपकी हम क्या सेवा करें ?'

उसके इतना कहते ही संन्यासी उसके पास जाकर एकदम उससे लिपट गये और बोले—'बेटा ! तुमने मेरी इच्छा पूरी की है। मैं तुम्हारा पिता हूँ। तुम तीनों भाइयोंके गुण और योग्यताकी परखके लिये ही मैंने झूठा समाचार भिजवाया था और एक वर्षतक हरिद्वारमें रहा। अब मुझे विश्वास हो गया कि तुम ही मुझे अधिक चाहते हो। तुम्हारेमें वे गुण और योग्यताएँ हैं, जो एक श्रेष्ठ पुत्रमें होना चाहिये। परंतु बेटा ! अपने बड़े और मझले भाइयोंका भी ध्यान रखना और उन्हें भी अपने-जैसा बनानेकी चेष्टा करना । मैं तो अब वापस हरिद्वार जा रहा हूँ।'

पुत्रके बहुत समझानेपर भी पिताने घर-गृहस्थीका मोह छोड़ दिया और वे हरिद्वारमें जाकर भगवद्भजन-परायण हो गये।

राम भरोसो राम बल, राम नाम बिस्वास। सुमिरत सुभ मंगल कुसल माँगत तुलसीदास ॥

राम-नाम रति, राम गति, राम-नाम बिस्वास। सुमिरत सुभ मंगल कुसल, दुहुँ दिसि तुलसीदास ॥

॥ श्रीहरिः ॥

सम्मान्य ग्राहकों एवं प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

'कल्याण' के ६३वें वर्षका यह ९वाँ अङ्क है। आगे १०वें, ११वें एवं १२वें अङ्कोंके प्रकाशित हो जानेके पश्चात् यह (६३वाँ) वर्ष पूरा हो जायगा। आगामी ६४वें वर्षका विशेषाङ्क (वि०-सं० २०४७का प्रथम अङ्क) 'देवताङ्क' प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया है। सात्त्विक अनुष्ठानोंमें सर्वप्रथम स्थान देव-पूजाको ही प्राप्त है—'यजन्ते सात्त्विका देवान्।' सात्त्विक अनुष्ठानोंसे प्रसन्न होकर देवगण अनुष्ठाता मानवोंकी उन्नति करते हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति और शास्त्रोंके अनुसार आधिभौतिक और आध्यात्मिक अभ्युदयके लिये जीवनमें देवोपासनाकी आवश्यकता एवं महत्त्व निर्दिष्ट है। तदनुसार इस अङ्कमें देवस्वरूपके उद्भव एवं विकास, देवताओंके मुख्य भेद, देवतत्त्वकी पौराणिक अवधारणा, पञ्चदेवोंकी उपासना, अवतार-तत्त्व, देवोपासनाके विविध रूप, देवोपासनाका परम उद्देश्य—चतुर्वर्गकी उपलब्धिके साथ भगवत्प्राप्ति तथा देव-चरित्रसे सम्बद्ध ज्ञानोपयोगी, रोचक कथाओं एवं अनेक परमोपयोगी सुरुचिपूर्ण विषयोंका समावेश किया जा रहा है।

गतवर्षकी तरह **यद्यपि इस वर्ष भी कागज, स्याही, मुद्रण-सामग्री आदि खर्चोंमें पर्याप्त वृद्धि हुई है, तथापि आगामी वर्ष 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य पूर्ववत् ४४.०० (चौवालीस) रुपये मात्र ही रखा गया है। वार्षिक शुल्क-राशि सीधे मनीआर्डरद्वारा भेजने या 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुरमें आकर जमा कराने अथवा गीताप्रेसकी निजी दुकानों (कलकत्ता, पटना, दिल्ली, कानपुर, वाराणसी, गोरखपुर, हरिद्वार, स्वर्गाश्रम-ऋषिकेश-स्थित) तथा अन्यान्य 'कल्याण'- वितरकों एवं पुस्तक-विक्रेताओंके यहाँ जमा करानेपर शुल्क-राशिमें कोई अन्तर नहीं होगा अर्थात् प्रत्येक स्थितिमें समान रूपसे एक ही वार्षिक मूल्य (चौवालीस रुपये मात्र) सुनिश्चित है। परंतु वी०पी०पी० द्वारा ग्राहक बननेपर ४.०० (चार) रुपये अतिरिक्त वी०पी०पी० डाकखर्चके जोड़कर कुल ४८.०० (अड़तालीस) रुपये देय होंगे।** अतः चार रुपयेके इस अतिरिक्त अधिभारसे बचनेके लिये हमारा सभी 'कल्याण'-प्रेमी ग्राहक सज्जनोंसे अनुरोध है कि वे वी०पी०पी०की प्रतीक्षामें न रहकर 'कल्याण'के निमित्त अपना वार्षिक शुल्क अग्रिम मनीआर्डरद्वारा ही भेजें। **वार्षिक शुल्क अग्रिम प्राप्त होनेपर ऐसे सभी ग्राहकोंको अङ्क भेजनेमें प्राथमिकता दी जायगी। वी०पी०पी० द्वारा अङ्क तो विशेषाङ्क बच रहनेकी स्थितिमें ही भेजे जा सकेंगे जो अनिश्चित है। अतः मनीआर्डरद्वारा अग्रिम शुल्क-राशि भेजनेवाले सभी महानुभाव निःसंदेह अपने अङ्क शीघ्र, सुरक्षित और निरापद् प्राप्त कर सकेंगे। विदेशके लिये 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ६ पौंड अथवा १० डालर है।**

ग्राहकोंकी सुविधाके लिये मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कमें संलग्न है। अतः सभी ग्राहक सज्जन मनीआर्डर भेजते समय मनीआर्डर-कूपनपर अपना पूरा पता—नाम, ग्राम, मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि सुस्पष्ट और सुवाच्य बड़े अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। साथ ही अपने डाकघरका पिनकोड नम्बर भी अवश्य लिखना चाहिये। पुराने ग्राहक हों तो अपनी शुद्ध ग्राहक-संख्या एवं नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें। ऐसा करनेसे ग्राहक सज्जनोंको अङ्कोंका प्रेषण सही, शीघ्र, सुगम और सुरक्षित होगा। मनीआर्डर-कूपनपर ग्राहक-संख्या अङ्कित होने अथवा 'पुराना' या 'नया ग्राहक' न लिखे होनेकी दशामें पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी०पी०पी० और नवीन ग्राहक-संख्यासे रजिस्ट्रीद्वारा अङ्क चले जायँगे। जिससे हमारे प्रिय ग्राहक सज्जनों तथा 'कल्याण'-कार्यालय—दोनोंको अनावश्यक अतिरिक्त खर्च तथा व्यर्थ समय नष्ट होनेसे असुविधा होगी। अतएव अपने एवं 'कल्याण'-व्यवस्थाके सुविधार्थ मनीआर्डर-कूपनपर सभी ग्राहकोंको अपनी ग्राहक-संख्या अनिवार्य-रूपसे लिखनी चाहिये।

कोई भी स्थानीय पुस्तक-विक्रेता, प्रतिष्ठान अथवा स्थानीय उत्साही व्यक्ति कम-से-कम ५० प्रतियाँ (४४.०० (चौवालीस) रुपये प्रति 'कल्याण'-वार्षिक दरसे) एक साथ 'कल्याण'-कार्यालयसे मँगाकर 'कल्याण'के प्रचार-प्रसारमें सहयोग दे सकते हैं, ऐसा करनेपर उन्हें ५.०० (पाँच) रुपये प्रति ग्राहक या 'कल्याण'-विशेषाङ्ककी दरसे प्रोत्साहन-पुरस्कार (कमीशन-रूपमें) दिया जायगा। किंतु उन महानुभावों या प्रतिष्ठानोंको पूरे वर्षभर अपनेद्वारा बनाये हुए सभी ग्राहकोंको प्रतिमाह सभी मासिक अङ्क निजी साधनोंसे पहुँचाने होंगे अर्थात् प्रतिमाह अङ्क-वितरणका पूरा दायित्व उन्हींको वहन करना होगा।

जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश नये वर्ष (वि०-सं० २०४७, तदनुसार सन् १९९० ई०) में 'कल्याण'का ग्राहक न रहना हो, उन्हें इसकी अग्रिम सूचना 'कल्याण'-कार्यालय, गोरखपुरको अवश्य दे देनी चाहिये। ऐसा करनेसे उनकी ग्राहक-संख्या समयसे निरस्त की जा सकेगी। उस स्थितिमें वी०पी०पी० द्वारा अङ्क भेजे जानेकी सम्भावना समाप्त हो जानेसे आपका अपना 'कल्याण' अनावश्यक डाकखर्चकी हानिसे बच सकेगा।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००५

कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यमें विशेष छूट

गीताप्रेस अपने आरम्भ-कालसे ही भारतीय संस्कृतिके प्राण और आदिस्रोत गीता, रामायण, महाभारत आदि उत्कृष्ट साहित्यके अधिकाधिक प्रचार-प्रसार-हेतु सदा सक्रिय तथा सचेष्ट रहा है। उच्चकोटिके सत्साहित्यका सस्ते मूल्यमें प्रकाशनके साथ ही हमारे इस प्रतिष्ठानका सिद्धान्तरूपसे हरसम्भव और यथाशक्य यह प्रयास और उपक्रम रहा है कि उसके सभी प्रकाशन समाजके छोटे-बड़े सभी स्तरके लोगोंतक अधिकाधिक रूपमें पहुँचे, जिससे बहुसंख्यक जन लाभान्वित हों। इसी उपक्रममें हमारे संचालक-मण्डलने 'बहुजनहिताय' निम्नलिखित विशिष्ट साहित्यका मूल्य घटाकर उसे अधिकाधिक जन-सुलभ बनानेकी दृष्टिसे एक प्रयास किया है। इस उपलब्ध सुअवसरसे अधिकाधिक लोगोंको लाभ उठाना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता—साधक-संजीवनी, टीकाकार स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज—(बृहदाकार) सचित्र, सजिल्द तथा आकर्षक रूप-सज्जायुक्त आवरण-सहित, मूल्य-१००.०० (एक सौ) रुपयेसे अब ८०.०० (अस्सी) रुपयेमें उपलब्ध।

श्रीमद्भगवद्गीता—तत्त्व-विवेचनी, टीकाकार श्रीजयदयालजी गोयन्दका—सचित्र, सजिल्द, साधारण संस्करण-मूल्य २०.००(बीस) रुपयेसे अब १५.०० (पंद्रह) रुपयेमें उपलब्ध।

संक्षिप्त महाभारत—प्रथम खण्ड (केवल भाषा)—सचित्र, सजिल्द, मूल्य ३६.०० (छत्तीस) रुपयेसे अब ३५.०० (पैंतीस) रुपयेमें उपलब्ध।

संक्षिप्त महाभारत—द्वितीय खण्ड (केवल भाषा)—मूल्य ४०.०० (चालीस) रुपयेसे अब ३५.०० (पैंतीस) रुपयेमें उपलब्ध।

श्रीरामचरितमानस सटीक (मोटे अक्षरोंमें)—सचित्र, सजिल्द, मूल्य ४५.०० (पैंतालीस) रुपयेसे अब ४०.०० (चालीस) रुपयेमें उपलब्ध।

इसके अतिरिक्त **श्रीमद्भगवद्गीता—साधक-संजीवनी टीका (सामान्य संस्करण)** पृष्ठ-सं० ११७२, सचित्र, सटीक, सजिल्द, मूल्य ३५.०० (पैंतीस) रुपयेमें भी उपलब्ध है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**

'कल्याण' नामक हिन्दी मासिक पत्रके सम्बन्धमें विवरण

१-प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर,
२-प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक,
३-मुद्रक एवं प्रकाशकका नाम—
रामदास जालान,
(गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये)
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय,
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर,
४-सम्पादकका नाम—राधेश्याम खेमका,
राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय,
पता—गीताप्रेस, गोरखपुर,

५-उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस पत्रिकाके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं।

श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय, पता-नं० १५१, महात्मा गाँधी रोड, कलकत्ता, (सन् १८६०के विधान २१के अनुसार) रजिस्टर्ड-धार्मिक संस्था।

मैं रामदास जालान गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

रामदास जालान
(गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये)
प्रकाशक

सौर मार्गशीर्ष, वि० सं० २०४६